





पारीक-कुल को इन्होंने कितना प्रतिष्ठित बना दिया है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

यह जयपुर के मुख्यामात्य (मुसाहिव) स्व० पु० रामप्रसादजी के सुपुत्र जगन्नाथवल्दाजी के दत्तक पुत्र थे। इनके पिता पुरोहित हरिनारायणजी वी० ए० हिंदी-साहित्य-सेवियों के श्रद्धा-स्थल हैं। आपने हिंदी-साहित्य की तन, मन, धन से जो सेवाएँ की हैं, वे स्मरणीय रहेंगी। इस प्रकार साहित्य को पु० रामप्रतापजी ने अपने पिताजी से प्राप्त किया, और प्रबोध-पटुता तथा कला श्रीजगन्नाथवल्दाजी से ली, जिनके यह दत्तक पुत्र थे।

इन सभी गुणों को लेकर हमारे चरित्रनायक क्षेत्र में उतरे। ताजोमी सरदार के रूप में आपने अपनी शासन-प्रबोध-पटुता दिखाई, और महाकवि के रूप में साहित्य और कला का ज्ञान। इन गुणों का बीजारोपण आपके आरम्भ-जीवन में ही हो चुका था। भावुकता और तल्लीनता आपके बाल्य-काल की ही संचित निधियाँ थीं, और सज्जनता की शिक्षा मिली आपको अपने वातावरण से। पुरोहित प्रतापनारायणजी एक भावुक कवि के रूप में बहुत दिनों से हिंदी-साहित्य की सेवा करते आए हैं। आपकी रचनाएँ बहुधा 'सुधा' में प्रकाशित होती रहती हैं, लेकिन इस क्षेत्र में आपकी सबसे महत्वपूर्ण रचना है, महाकाव्य के रूप में, 'नल नरेश' जो आपके सामने है। हिंदी में यह महाकाव्य एक नई चीज है। इसकी पांडु-लिपि को देखकर हिंदी-साहित्य के कई एक प्रमुख विद्वानों ने कविरत्न श्रीप्रतापनारायणजी के रचना-चातुर्य

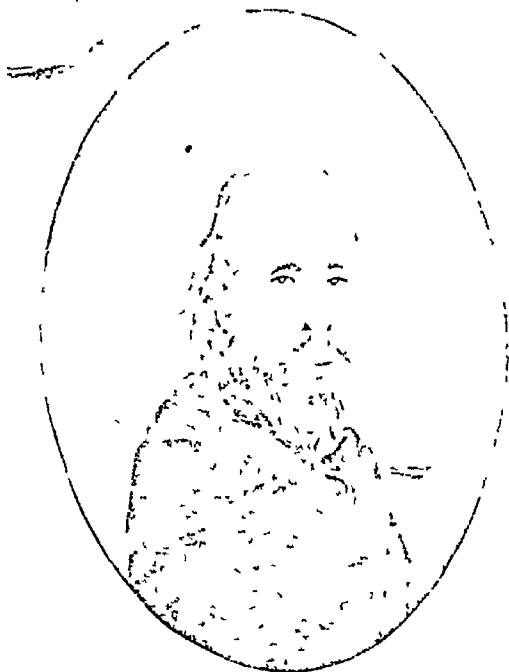
की प्रशंसा की है। वास्तव में यह ग्रथ अपने ढंग का अनूठा है। इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण मौजूद हैं। इसकी शैली तो बहुत ही आकर्षक है। माधुर्य और प्रसाद, ये दोनों गुण मानो कविरत्नजी के अपने हैं। 'नल नरेश' के अतिरिक्त आपकी एक दूसरी पुस्तक 'काव्य-कानन' भी, जिसमें करीब-करीब २००९ छंद हैं, हिंदी-प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हो गई।

यह तीन भाई हैं, और सबमें ज्येष्ठ आप हैं। श्रीउदयनारायणजी इनके दूसरे भाई हैं, जो सगीत-विद्या में पारंगत हैं, और मदनकुमारजी तीसरे हैं। यह चित्र-कला में कमाल करते हैं।

आजकल कविरत्नजी जयपुर में अपने पिताजी के पद पर ताजीमी सरदार हैं, और सुयोग्यता के साथ इस कार्य का संपादन करते हैं। हम आपसे हिंदी-साहित्य-सेवा की बहुत अधिक आशा रखते हैं।



दले. नरेश



पं० अयोध्यासिंह तपाध्याय 'हरिश्चौध'

Ganga Fine Art Press, Lucknow

## अंतर्दर्शन

मैं समझता हूँ, वर्तमान समय हिंदी-भाषा के अभ्युदय का एक उल्लेख-योग्य काल है। इस समय उसकी देश-व्यापिनी समुन्नति ही नहीं हो रही है, उसकी सर्वांग-पुष्टि के लिये बड़े-बड़े विद्वान् भी वद्ध-परिकर हैं। वे लोग हृदय से इस बात का उद्योग कर रहे हैं कि यदि हिंदी-भाषा को राष्ट्रीय भाषा के सिंहासन पर आसीन करना है, तो उसे इस योग्य बनाना होगा, जिससे वह प्राप्त पद की समुचित शोभा के संपादन में समर्थ हो सके। उसके हरएक विभाग में उन्नति के आनंद-जनक चिह्न दृष्टिगत हो रहे हैं। प्रत्येक विभाग में युवक-दल जिस उत्साह और सलग्नता के साथ कार्य कर रहा है, वह अभिनंदनीय ही नहीं, आदरणीय और प्रशंसनीय भी है। समुन्नत भाषा के प्रधान अंगों में साहित्य का विशेष स्थान है। किसी देश, जाति अथवा समाज के उत्कर्ष का ज्ञान उसके साहित्य द्वारा ही होता है, क्योंकि उसका आदर्श उसी में अंकित मिलता है। साहित्य जातीय सम्यता का जनक है, और सम्यता ही वह साधन है, जिसके द्वारा सम्य-समाज देश में ही नहीं, संसार में अपनी कीर्ति-पताका उड़ा सकता है। हर्ष है कि इस बात का यथार्थ ज्ञान हमारे देश के विबुध-वृंद को हो गया है, और वे अपने कार्य-पथ की ओर उत्साह के साथ अग्रसर हो रहे हैं।

साहित्य के दो विभाग हैं—पहला गद्य और दूसरा पद्य । आजकल हिंदी-भाषा के दोनों विभाग प्रतिदिन समुन्नत हो रहे हैं । मेरा प्रस्तुत विषय पद्य-भाग ही है, अतएव यहाँ मैं उर्मी की चर्चा करूँगा । गद्य से पद्य लिखना सुगम है या अगम, यह विषय वाद-प्रस्त है । यदि यह कहा जाना है कि “गद्यं कवीनां निक्रमं वदन्ति”, तो यह कहने में भी मुक्तमंठना से काम लिया गया है कि ‘गद्य से पद्य विशेष प्रभाव-जनक और दृढयग्राही होता है ।’ यही कारण है कि गद्य लिखनेवालों से पद्य लिखने-वालों का प्रभाव सर्वसाधारण अथवा देश या जाति पर अधिक देखा जाता है । जो गौरव संस्कृत-साहित्य में रामायणकार और महाभारत के रचयिता अथवा कवि-पु गव कालिदास को प्राप्त है, वह गौरव अब तक किसी गद्य-साहित्यकार को नहीं प्राप्त हुआ । कादंबरी के रचयिता बाण को भी नहीं, यद्यपि उनके विषय में कहा गया है कि “बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम् ।”

हिंदी-भाषा का पद्य-विभाग चिरकाल से समुन्नत है, आज भी उसकी प्रगति में अंतर नहा पडा । इस समय भी हिंदी-भाषा के पद्य-विभाग में प्रतिष्ठित कवि-पु गव कार्य कर रहे और उसे उन्नत बना रहे हैं, यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है । जहाँ छोटे-मोटे कविता-ग्रथ रचे जा रहे हैं, वहाँ महाकाव्य रचने की ओर भी भावुक कवि-वृ द का उत्साह पाया जाता है, यह अल्पानंद की बात नहीं ।

महाकाव्य क्या है ? और उसके नियम क्या हैं ? इस पर मैं

इस छोटे-से वक्तव्य में विशेष कुछ लिखना नहीं चाहता, किंतु यह अवश्य कहूँगा कि महाकाव्य लिखना सुगम नहीं। साहित्य-दर्पणकार की सम्मति इस विषय में यह है—

“जिसमें सर्गों का निबन्धन हो, वह महाकाव्य कहा जाता है। इसमें एक देवता या सद्दश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तादि गुण हों—नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर और शांत में से कोई एक रस अगी होता है, अन्य रस गौण होते हैं। सत्र नाटक संधियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन-सवधिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलो की निंदा और सज्जनो का गुण-वर्णन होता है। इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें प्रत्येक में एक ही छंद होता है, किंतु अंतिम पद्य (सर्ग का) भिन्न छंद का होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छंद भी मिलते हैं। सर्ग के अंत में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें सध्या, सूर्य, चंद्रमा, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया (शिकार), पर्वत, श्वेतु (छहो), वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, सप्राम, यात्रा, विवाह, मंत्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासंभव सागोपांग वर्णन होना चाहिए। इसका नाम कवि के नाम से (जैसे माघ) या चरित्र के नाम से (जैसे कुमारसंभव) अथवा चरित्र-नायक



के नाम से (जैसे खुदश) होना चाहिए। कदा नरक अतिरिक्त भी नाम होता है, जैसे भद्रि ।”

( साहित्यदर्पण की शिमाटी टीका पृष्ठ ३०८, ३०९ )

साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य के जो लक्षण बताए हैं, वे विशद और विशेष नियमों के साथ आवद्ध हैं। महाकाव्य श्रमणों में उन सब नियमों का सारांश में यथाशय पाठन असंभव है। कुछ बातें ऐसी हैं, जो उनका नियमों के अन्तर्गत नहीं हैं, परन्तु महाकाव्यकारों को उनका वर्णन करने देना जाता है, जैसे देश-प्रेम एवं जानि प्रेम-संबन्धी प्रकृष्टण आदि। मेरा विचार है कि नियमों का निरूपण साहित्यदर्पणकार ने एक आदर्श उपस्थित करने के लिये ही किया है, वे उपलक्षण-मात्र हैं, उनमें न्यूनाधिक भी हो सकता है। संस्कृत के महाकाव्यकारों ने उनका प्रतिपालन यथाशक्ति किया है, परन्तु आवश्यकानुसार स्वनयना भी ग्रहण की है। आजकल हिंदी-संसार में नियमबद्धता की उपेक्षा की ओर अत्रिफनर प्रवृत्ति देखी जाती है। यह बांछनीय नहीं। देश-कालानुसार नियम कुछ ग्रिथिल बनाए जा सकते हैं, और उनमें उचित परिवर्तन भी किया जा सकता है, परन्तु सर्वथा उनकी उपेक्षा सगन नहीं, क्योंकि उच्छृंखलना उ-मार्गगामिनी होती है। इन सब बातों पर दृष्टि रखकर जब मैं अनुधावन करता हूँ, तो मुझको यह कहना पड़ता है कि महाकाव्य की उचित परिभाषा यह है कि जिसमें वास्तव में महाकाव्यत्व पाया जाय, और जिसका ऐसा कोई महदुद्देश्य हो, जो

देश, जाति और समाज के भावों का दर्पण हो, जिसमें ऐसे विचारों और महान् कल्पनाओं का चित्रण हो, जो किसी लोक-समूह के लिये कल्पद्रुम का काम दे सकें। हाँ, उसके सर्ग अथवा अध्यायों की संख्या आठ या दस से अधिक अवश्य हो, जिसमें वर्णित विषयों का उचित परिपाक ग्रंथ में हो सके। किंतु स्मरण रखना चाहिए कि कोई पच्चीस-तीस सर्ग का ग्रंथ ही क्यों न लिखे, यदि उसमें कवि-कर्म नहीं, महाकवित्व नहीं, तो इतना बड़ा ग्रंथ होने पर भी वह महाकाव्य कहलाने योग्य न होगा। और, थोड़े ही सर्गों का ग्रंथ क्यों न हो, यदि उसमें व्यजना की प्रधानता है, भावुकता उसमें छलकती मिलती है, महाकवि का कर्म देखा जाता है, तो वह अवश्य महाकाव्य कहा जा सकेगा, क्योंकि ग्रंथ का महत्त्व ही उसकी महत्ता का कारण हो सकता है। मेरी इन बातों का यह भाव कदापि नहीं कि मैं साहित्यदर्पणकार के नियमों को अवहेलना करना चाहता हूँ, वरन् मेरे कथन का अभिप्राय यह है कि उनके नियमों का सर्वथा पालन करते हुए भी यथावसर समुचित स्वतंत्रता ग्रहण की जा सकती है।

हिंदी-भाषा में महाकाव्यों की न्यूनता नहीं है। उसमें पृथ्वीराज-रासो, रामचरित-मानस, पद्मावत, रामचंद्रिका आदि अनेक सुंदर और समादरणीय महाकाव्य लिखे गए हैं, जिनके द्वारा उसको बहुत बड़ा गौरव प्राप्त है। इनमें सर्वांश में साहित्यदर्पणकार के नियमों का पालन नहीं हुआ है। बहुत कुछ आवश्यकता-नुसार परिवर्तन भी दृष्टिगत होता है, परंतु इस कारण उनके

महत्त्व में कुछ अंतर नहीं पड़ा, उनका समुचित स्वतंत्रता-ग्रहण उनके शोभा-वर्धन और महत्ता का ही कारण हुई है। हिन्दी-भाषा में और भी महाकाव्य लिखे गए हैं, परन्तु उन समझी चर्चा करना आवश्यक नहीं। उस युग का अंतिम महाकाव्य स्वर्गीय बाबू हरिचन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्रजी का लिखा हुआ 'जरा-सध-चर' है। यह भी एक सुदृढ़ महाकाव्य है, जो प्रजभाषा में लिखा गया है। कर्ते दृष्टि से समझी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती है।

आजकल खड़ी बोली का बोलचाल है, और उसकी विनय-दुंदुभी का निनाद ही सर्वत्र श्रवणगत होता है। इस भाषा में अब तक अनेक पद्य-ग्रंथ निकल चुके, और निकलते जाते हैं। जिसका पृष्ठ-पोषक वर्तमान काल का अधिकांश नवयुवक-दल है, उसका उन्नाति-शिखर पर आरूढ़ होना आश्चर्य-जनक नहीं। इस भाषा के उत्थान का समग्र अर्ध-शताब्दी से अधिक नहीं है। फिर भी, इतने ही समय में, इसने अपना विलक्षण प्रभाव प्रकट किया है। आजकल हिंदी-संसार में उसी के अगभूत छायावाद अथवा रहस्यवाद का रचनाओं का स्रोत बह रहा है। जिधर देखिए, इस प्रकार की रचनाओं का समादर और गुण-गान ही विस्तार पाता दृष्टिगत होता है। ऐसी दशा में यदि कहें कि इस समय सर्वेसर्वा वही है, तो अनुचित न होगा। जहाँ खड़ी बोली का उन्नयन विविध रूप और प्रकार से हो रहा है, वहाँ उस्ताही नवयुवकों का ध्यान खड़ी बोलचाल में महाकाव्य-रचना करने की

और भी अविश्व आकृष्ट है । खड़ी बोली के दो-तीन अच्छे महाकाव्य दस-पंद्रह वर्ष के भीतर निकल चुके हैं । हाल ही में लब्धप्रतिष्ठ कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत'-नामक एक सु दर महाकाव्य भी निकल है । महाकाव्य के रूप में पाँच-सात ग्रंथ और मैंने देखे हैं, जो निर्मित हो चुके हैं, परंतु उनका मुद्रण अभी नहीं हुआ । मुझको हर्ष है कि लखनऊ के गंगा-पुस्तकमाला से एक 'नल नरेग'-नामक महाकाव्य इसी सप्ताह में निकल रहा है । मैं नहीं कह सकता कि हिंदी-संसार की इसके विषय में क्या सम्मति होगी, परंतु मैं इसमें महाकाव्य के अनेक लक्षण पाता हूँ ।

मैंने यह देखा है कि हिंदी के अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् दस से अधिक सर्गों में लिखे गए ग्रंथ को भी महाकाव्य कहने और लिखने में सकोच करते हैं । वे उसको बड़ा काव्य लिख देंगे, परंतु महाकाव्य न कहेंगे । दो विद्वानों को मैंने 'साकेत' के विषय में भी द्वंद्व युद्ध करते देखा । एक उसे महाकाव्य कहता था, और दूसरा उसका विरोध करता था । कारण इसका यह है कि एक उसको साहित्यदर्पणकार के नियमों की कसौटी पर कसता था, और उस ग्रंथ के कतिपय दोषों को दिखलाकर उसे महाकाव्य नहीं कहना चाहता था । दूसरा इन बातों की परवा नहीं करता था । वह गुण-ग्राही था, और उस ग्रंथ के गुणों पर और उसकी विशदता पर ही दृष्टि रखकर उसे महाकाव्य स्वीकार करता था । मतभिन्नता

स्वाभाविक है। प्रत्येक विद्वान् का विचार स्वतंत्र होता है, और अपने इस स्वतंत्र विचार को प्रकट करने का उसे अधिकार भी रहता है। 'नट नरेग' के विषय में जो विचार मैं प्रकट करना चाहता हूँ, वे भी ऐसा ही हैं। नभय है, वह आपत्ति-मूलक हो, परन्तु मैं उसके प्रकट करने में सन्नोच नहीं करना चाहता, क्योंकि उनका न प्रकट करना न्याय-संगत न होगा।

मुझको 'नट नरेग' को देखकर विशेष दर्पण इस कारण हुआ कि उसकी रचना एक नवयुवक द्वारा हुई है। यह भी कम सनोप की बात नहीं कि उसका रचयिता उस प्रतिष्ठित कुटुंब का है, जो जयपुर-राजवंश द्वारा सम्मानित है। चौवन-नाट्य आनंद-प्रमोद और नाना दुर्घटनो का आधार होता है। उसके वंशजों न होकर एक नवयुवक का विद्या-व्यसनी होना और नम्नता के साथ योड़ी अवस्था में 'नट नरेग'-जैसा महामाव्य लिख देना अल्प अभिनंदनीय नहीं है। इस मूत्र से मैं इस ग्रंथ के लिखने के लिये प्रयत्नार का प्रफुल्ल हृदय से अभिनंदन करता हूँ, और चाहता हूँ कि उनका यह विद्या-व्यसन चिर जाग्रत् रहे, और वह सल्लभता के साथ हिंदी-शैली की सेवा करने में रत रहें। मुझको इस ग्रंथ को देखकर इस कारण और अधिक आनंद हुआ कि जिस समय परोक्षवाद का राग अलगा जा रहा है, और पृथ्वी पर रहकर आकाश की बातों की जा रही हैं, आँख-देखी बातों को धता बनाकर अनिर्वचनीयता का

गान सुनाया जा रहा है, भाषा को जटिल-से-जटिल बनाया जा रहा है, उस समय एक होनहार नवयुवक सामने आता है, और काम में आनेवाली घर की वे बातें—चलती और परिमार्जित भाषा में—सुना जाता है, जिनका ससार और मानव-जीवन से गहरा संबंध है।

महाकाव्य के विषय में मैं अपनी सम्मति ऊपर प्रकट कर आया हूँ। मैंने कई एक संस्कृत के विद्वानों को मेघदूत को महाकाव्य मानते देखा है। हिंदी-संसार के कुछ विद्वानों को मैंने विहारीसतसई को भी महाकाव्य कहते सुना है। स्वर्गीय प० बदरीनारायण चौधरी, प० अश्विनादत्त व्यास और स्वयं वाचू हरिश्चंद्र को भी मैंने विहारीसतसई को महाकाव्य कहते पाया है। वे लोग वानचीत होने पर यह कहते थे कि यदि विहारीलाल महाकाव्य है, और उनके ग्रंथ में महाकाव्य है, तो वह महाकाव्य क्यों नहीं है। यह व्यापक दृष्टि नियम-वद्धता के प्रेमियों को पसंद न आवे, परंतु उसमें मार्मिकता अवश्य है, जो ग्रंथीय ही नहीं, आदरणीय भी है। इसी दृष्टि से मैं ऊपर अपना कुछ इस प्रकार का विचार प्रकट भी कर चुका हूँ। 'नल नरेज' को भी मैं उसी दृष्टि से देखता हूँ। ग्रंथकार ने इस ग्रंथ को १९ सर्गों में लिखा है, और साहित्य-दर्पणकार के अधिकांश नियमों को अपने ग्रंथ में सादर ग्रहण करने की भी चेष्टा की है। इन बातों पर विचार करने से उनके ग्रंथ को महाकाव्य कहा जाता है। मैं इसे इस योग्य

अस्य नमसना ह किं यह उप गोग्य का अधिकारी माना जाय, जो उसकी गणना उत्तम ग्रथों में करा नके ।

'नल नदेश को भाषा प्राजल और प्रायः शुद्ध है । उनमें जिन धिपन का जनों वर्णन है, वह कवि-कर्म दृष्टिगत होता है । ग्रंथकार ने जगन्नाथ उन ग्रान का पश्चिम फट नोट द्वारा दिया है, परन्तु ने उसको आवश्यक न. नमसना, ग्रथ की वर्णन-श्रेणी ही इस ग्रान को स्वयं प्रकट करती रहता है । ग्रंथकार ने अपने ग्रथ की रचना में नरकन के ग्रथों ने भी सहायता ली है, विशेषकर महाभारत से । उसने उसको इनकी रचना में सुविधा अवश्य हुई है, परन्तु उसका निजत्व भी उनमें नोज़द है । उनमें स्थान-स्थान पर उस प्रकार भाव-प्रकाशन किया है, जिसने उसकी स्वकीय प्रतिभा का प्रकाम देगा जाता है । ग्रथ को अर्शीलना से बचाया गया है, और उसको नामभिक बताने की भी चेष्टा की गई है । ग्रंथकार ब्राह्मण और नानाधर्म का प्रेमिक है, इसलिये ग्रथ में सनातन धर्म के कई एक उत्तम आदर्श मौजूद हैं । यह मैं स्वीकार करूँगा कि जिनकी शब्द-विन्यास की ओर उसकी दृष्टि रही है, उनको व्यंजना की ओर नहीं, फिर भी स्थान-स्थान पर सुंदर व्यंजनाएँ दृष्टिगत हो जाती हैं । एक अवस्था होने पर जो मार्मिकता पद्यों में आती है, वैसी मार्मिकता ग्रथ में प्रायः पाई जाती है, और मैं यह भी कहूँगा कि ग्रंथकार का हृदय भाव-प्रवण है, एवं उसके हृदय को यह भावुकता ग्रंथ में यत्र-तत्र स्पष्ट रूप से प्रतिफलित

हुई है। राजदरवार में रहने के कारण उसको राजसी ठाट-बाट का अच्छा ज्ञान है। अतएव स्थल-स्थल पर इस विषय का भी सु दर विकास देखा जाता है। मैं पद्यो को उद्धृत करके अपने कथन की पुष्टि कर सकता था, परंतु स्थान की न्यूनता और अस्वस्थता इस कार्य की बाधक हुई।

ग्रथ के दोषो का प्रदर्शन मुझे इष्ट नहीं। कारण, वे ही दोष ग्रथ में पाए जाते हैं, जिनका प्रचार आजकल खड़ी बोली की रचनाओ में अधिकतर स्वतंत्रता-पूर्वक हो रहा है। आजकल मुहावरों का गढ़ लेना, मनमाना शब्द-विन्यास करना, इच्छानुसार विभक्तियों का लोप कर देना, अस्पष्ट भाव और भाषा का प्रयोग करना वाए हाथ का खेल है। इस प्रकार का व्यवहार नियमबद्धता की कठोरता से स्वतंत्रता ग्रहण का सर्वोत्तम उपाय समझा जाने लगा है। मनमाना पुंलिंग शब्दों को स्त्रीलिंग लिखना, व्याकरण-दुष्ट शब्दों का निस्सम्बन्ध प्रयोग करना, भाषा के प्रवाह और बोलचाल के नियमों पर दृष्टि न रखना, इन दिनों परंपरा की शृंखलाओं के तोड़ने का सद्दुपाय माना जाता है। या इस बहाने अपने दोषों पर परदा ढाला जाता है। खेद है, आजकल कुछ सुयोग्य आलोचक भी इस विषय में मौन ग्रहण करना ही उत्तम समझते हैं। अब कुछ लोग ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग भी अनवसर करते देखे जाते हैं, फिर भी उनको सावधान करनेवाले सावधान नहीं करते। जब हिंदी-साहित्य-क्षेत्र की यह अवस्था है, तब ग्रथकार को



हैं इन बातों का दोषों क्यों नमशा जाय ? अतएव इस विषय में मौन ग्रहण करना ही मैंने उचित समझा । परंतु इस अवसर पर मैं यह प्रकट कर देना भी न्याय-मग्न नमशना हूँ कि इस प्रकार के बहान-से दोषों से यह ग्रंथ मुक्त है । आशा है कि दूसरे संस्करण में ग्रंथकार विशेष सावधान हो जायेंगे, और उन कुछ दोषों के दूर करने की चेष्टा करेंगे, जो उनके उत्तम ग्रंथ के लिये शोभा-जनक नहों ।

मुझको विश्वास है कि हिंदी-मत्तार इस ग्रंथ का उचित आदर करेगा, और महाकावि को वह उत्साह प्रदान करने में संकुचित न होगा, जो यथाकाल उसके द्वारा अन्य महाकाव्यों के निर्माण का एक अभिनवनीय हेतु बन सके ।

आजमगढ़  
३ जून सन् १९३३ ई० } }

अयोध्यानिह उपाध्याय  
'हरिऔध'



# विषय-सूची

## पहला सर्ग

( छंद-संख्या ७६ )

१. मंगलाचरण
२. भारतवर्ष का महान् गौरव
३. उसकी सर्वोत्तमता सिद्ध करने के प्रमाण
४. इस महाकाव्य के लिखने का कारण
५. सज्जन-स्तुति
६. नीच-निंदा

पृष्ठ

१

## दूसरा सर्ग

( छंद-संख्या ६५ )

१. निपघ-देश के जल-वायु इत्यादि का वर्णन
२. राजा नल के गुणों और गौरव का वर्णन
३. राजा नल को पुष्कर का बहकाना
४. राजा नल का एक विचित्र इश्य देखना
५. पुष्कर को उत्तर...इत्यादि

१८

## तीसरा सर्ग

( छंद-संख्या ८३ )

१. चिदर्भ-देश का वर्णन
२. भीम राजा के रूप और गुणों का वर्णन

३७

३. दमन महर्षि का भीम के दरवार में आना, और उनको सतानोरुपति का वरदान देना
४. दमयंती का पैदा होना
५. नल राजा पर उसका मुग्ध होना

### चौथा सर्ग

( छंद-संख्या ६७ )

१. सायंकाल का और राजा नल के बाढ़ का वर्णन
२. उनका दमयंतीसय होकर वहाँ रहलना और एक राजहंस को पकड़ लेना
३. उनसे प्राण-दान माँगकर, नल-दूत होकर हंस का दमयंती के पास जाना
४. अपनी जन्मभूमि के प्रति हंस के विचार और प्रात-वर्णन
५. दमयंती से बातचीत करके, उसका उत्तर लेकर हंस का राजा नल के पास वापस आना

### पाँचवाँ सर्ग

( छंद-संख्या ६५ )

१. दमयंती की और सखियों की बातचीत
२. विरह-दशा का और चंद्र का वर्णन
३. उसकी माता के कहने पर भीम राजा का भैमी के स्वयंवर के लिये साल सजाने की आज्ञा देना
४. कुडिनपुर की सजावट का वर्णन और निमंत्रणों का जाना
५. निमंत्रण पाकर नल राजा का निषध से प्रस्थान

## छठा सर्ग

( छंद-संख्या ८८ )

१. दमयंती के स्वयंवर के लिये देवताओं का प्रस्थान
२. उनका नल को विमान पर से देखना और विचारना
३. देवों की नल से बातचीत और उन्हें वृत्त बनाकर भैमी के पास भेजना
४. अदृश्य-विद्या सीखकर नल का दमयंती के महल में प्रवेश
५. दमयंती को देखकर नल का मुग्ध होना और उससे बातचीत करना; देवों को वरण करने को उससे नल की विनय
६. दमयंती का उत्तर लेकर नल का देवताओं के पास हर्षित होकर वापस आ जाना

## सातवाँ सर्ग

( छंद-संख्या ७८ )

१. स्वयंवर-भवन का वर्णन
२. नल राजा के प्रताप और रूप का वर्णन
३. दोनों के विषय में राजाओं के विचार
४. दमयंती का राजसभा में वरमाता-सहित प्रवेश
५. दमयंती का शिक्ष-नख-वर्णन
६. राजा नल का शिक्ष-नख-वर्णन

## आठवाँ सर्ग

( छंद-संख्या ६६ )

१. राजाओं की दशा का वर्णन
२. दमयंती की मनोहरता का वर्णन

३. देव-माया का दृश्य; पाँच नक्ष हो जाना
४. दमयंती के विचार और उसका भगवान् से एवं देवों से विनीत विनय करना
५. उसका नक्ष को वरमात्मा पहनाना
६. देवताओं का दोनो को धरदान देकर अंतर्धान हो जाना
७. नक्ष और दमयंती का विवाह
८. दोनो का समारोह के साथ निषध में पहुँचना -

### नववाँ सर्ग

१४७

( छंद-संख्या ७८ )

१. निषध की जनता से नक्ष राजा का स्वागत
२. दोनो के रहन-सहन का वर्णन
३. काल-चक्र की शक्ति, इंद्रसेन और इंद्रसेना का राजा नक्ष के घर में जन्म लेना
४. कलि और द्वापर का स्वयंवर से लौटते हुए चारो देवों से आकाश में मिलना और उनकी बातचीत
५. कलि का क्रोध करना और नक्ष ने बदला लेने की प्रतिज्ञा करके भूलोक पर आ जाना

### दसवाँ सर्ग

१४३

( छंद-संख्या ६३ )

१. नक्ष के शरीर में कलि का प्रवेश
२. नक्ष और पुष्कर का द्यूत खेलना
३. नक्ष का हारकर महल से बाहर निकल जाना
४. नक्ष और दमयंती का एक वन में प्रवेश
५. दोनो का विलाप और बातचीत

- ६ नल के एकमात्र परिधान का भी पक्षियों से हरण किया जाना
७. भैमी की सांवना-दायिनी गिरा
८. दोनो का ज़मीन पर सो जाना

### ग्यारहवाँ सर्ग

१८३

( छंद-संख्या ६३ )

१. भैमी को सोती हुई देखकर राजा नल के विचार
२. दमयंती को छोड़कर नल का वन में दूर चले जाना
३. दावानल का दृश्य और उसका वर्णन
४. नागराज कर्कोटक को राजा नल का अग्नि से बचाना और उसका उनको काट खाना ; नल का विलाप और नाग का उत्तर
५. दमयंती के शोक से नल का पागल के समान होकर वन में घूमना
६. नल का विलाप, अर्ध-रात्रि का और अरुणोदय का वर्णन
७. नल और ऋतुपर्ण की परस्पर बातचीत
८. आज्ञा पाकर रोगी घोड़े को ठीक करके, ऋतुपर्ण का सारथी बनकर नल का अयोध्या को प्रस्थान

### बारहवाँ सर्ग

२०१

( छंद-संख्या १०४ )

१. मात-काल और दमयंती की स्वप्नावस्था का वर्णन
२. दमयंती का जागना और नल-त्याग पर अचिरवात्स प्रकट करना

३. उसके विलाप का लड़-जगम पर प्रभाव
४. उसका कई प्रकार से विलाप करना एवं अंत में मूर्च्छित होकर एक कुंज में गिर जाना
५. मूर्च्छा से जागकर दमयंती का फिर विलाप करना और वन को शोकमय बना देना
- ६ पति के श्रग के उपमानों को देख-देख कर उसका रोना
- ७ अजगर, दमयंती और एक व्याध
- ८ व्याध-दहन और पातिव्रत-व्याख्या
- ९ अंत में कुछ खा-पीकर दमयंती का सो जाना

### तेरहवाँ सर्ग

२२२

( छंद-संख्या ६७ )

१. ओष्ण-श्वेतु-वर्षान, दमयंती का जागना और व्यापारियों के एक बड़े झुंड का कोलाहल सुनना
२. भैमी के प्रति व्यापारियों के विचार
३. दमयंती का मृतकों को फिर से जीवित कर देना और 'चेदि'-नगर में जाने का हृदय निश्चय करना
४. दमयंती के स्त्रा-संबंधी विचार
- ५ वन-वर्षान, तपोघन-वर्षान और उसमें भैमी-प्रवेश
- ६ भैमी के साथ एक तपोघन का घातचीत, उसका उपदेश और उन्के दिए हुए फल को खाकर दमयंती का वहाँ विश्राम करना, प्रातःकाल उठकर 'चेदि' में पहुँचना
७. राजमाता और दमयंती की घातचीत और उसका फिर यहाँ सर्गों वनकर रागमन्या मुनंदा के पाम वास करना

## चौदहवाँ सर्ग

( छंद-संख्या ६६ )

१. वर्षा-ऋतु-वर्णन
२. 'सुदेव' ब्राह्मण का 'चेदि' नगर में पहुँचना और दमयंती को लेकर निपथ में आ जाना
३. 'पर्णाद'- विप्र की, जो निपथ को ढूँढ़ने जा रहा था, भैमी से बातचीत
४. 'पर्णाद' का अयोध्या पहुँचकर बाहुक-वेप-धारी नल का उतर जाना
५. 'सुदेव' को अयोध्या में 'सुबाहु' को निमंत्रित करने भेजना
६. 'दमयंती के स्वयंवर' को सुनकर राजा नल के विचार और उनका 'सुबाहु' को रथ में बैठाकर निपथ को चलना
७. मार्ग में दोनो की बातचीत; द्यूत-विद्या सीखने के प्रभाव से राजा नल के शरीर से कलिदेव का बाहर निकल आना
८. रथ का भीम के यहाँ पहुँच जाना, केशिनी का नल को पहचान लेना और उनका हाज अगनी सखी वैदर्भी से कहना
९. नल राजा का प्रकट हो जाना और भेद का खुल जाना

## पंद्रहवाँ सर्ग

( छंद-संख्या १११ )

१. शरद-ऋतु-वर्णन, दमयंती और सखियों की बातचीत
२. इंद्रसेन और इंद्रसेना की अपनी माता से बातचीत
३. नल-दमयंती-मिलन और उनका परस्पर वार्तालाप
४. दमयंती के सोलह शृंगारों का वर्णन और द्वादश भूषणों के नाम
५. नल और दमयंती का शयन



## सोलहवाँ सर्ग

२८७

( छंद-संख्या ६६ )

- १ प्रातःकाल भीम और ऋतुपर्ण का वाग में टहलते हुए नल राजा से मिलकर परस्पर वार्तालाप करना
२. आदर्श राजा का वर्णन, दो-चार दिन और ठहरने के लिये भीम का नल और ऋतुपर्ण से प्रार्थना करना
- ३ सरयू-नदी का और उसके तट पर घने हुए ऋतुपर्ण की मृगया-शाब्दा इत्यादि का वर्णन
- ४ मृगया-वर्णन और मद्यपान-वर्णन
- ५ दूसरे दिन प्रातःकाल नल का ऋतुपर्ण के दूत को पत्र देकर निपघ में पुष्कर के समीप भेजना

## सत्रहवाँ सर्ग

३०७

( छंद-संख्या ६६ )

१. हेमंत-वर्णन
२. नल के भेजे हुए दूत के साथ, देश-देशांतर में घूमे हुए एक अनुभवी एक व्यापारी का मार्ग में भेल हो जाना
३. दूत का उसमें प्रश्न, व्यापारी का उत्तर और अपनी यात्राओं में समुद्र-यात्रा को सबसे उत्तम बताना
४. समुद्र-वर्णन, दूत का उससे फिर प्रश्न करना और पुष्कर के विषय में ज्ञातव्य बातों को जान जाना
- ५ दुष्ट राजा पुष्कर के राज्य का वर्णन
- ६ दोनो का निपघ में पहुँच जाना

## अठारहवाँ सर्ग

३२२

( छंद-संख्या ६१ )

१. शिशिर-वर्षान, यखिक् और दूत का निषध में पहुँचकर देश की दुर्दशा देसना
२. दूत का राजद्वार में प्रवेश, पुष्कर में मिलकर उसको नक्षत्र का पत्र दे देना । उसका उत्तर देकर योग-साधन के लिये प्रतिज्ञा करना और नक्षत्र के पत्र को सबको सुनाना
३. दूत का नक्षत्र के पास सेना-सहित वापस जाना और समाचार कहना
४. मेना लेकर नक्षत्र-दमयंती का निषध में प्रवेश और आभीर्यों तथा राजाओं से मार्ग में स्वागत

## उन्नीसवाँ सर्ग

३३५

( छंद-संख्या ८७ )

१. वसंत-वर्षान और नक्षत्र का दमयंती के साथ निषध में प्रवेश
२. पुष्कर की तपस्या, उनका डटना और दमयंती के चरण परकृष्ण रंगना एवं चमा गाँगना
३. नक्षत्र-दमयंती का उसको पना करना, पुष्कर के उद्धार, उसका राज-विद्वान् सुशोभित करने के लिये नक्षत्र में प्रार्थना करना और नक्षत्र का उत्तर
४. नक्षत्र का वैराग्य धारण कर लेना और योगी हो जाना  
 & उसका पुष्कर को उरदेश और इंद्रमेन को राजगारी देना

६. उसकी परमयोगी कर्म-प्री ज्ञान-वार्ता सुनकर इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण, इन चारों देवताओं का प्रकट होना
  ७. देवताओं की और नल की बातचीत
  ८. नल का उनसे वरदान माँगना
  ९. नल-वर्मयन्त्री को सदेह ही विमान में बैठाकर और भारतवर्ष की उन्नति के लिये 'तथाऽस्तु' कहकर देवताओं का स्वर्ग में चला जाना
-

## मंगलाचरण

माया की भी महाशक्ति में व्यापक है जिसकी सत्ता ;  
 बतलाता है जिसका पूरा पता सदा पत्ता-पत्ता ।  
 गंध रसाळ में, रस जो जल में, रूप तेज में कहलाता ;  
 स्पर्शन में है स्पर्श और जो शब्द गगन में बन जाता ।  
 ऐसा श्यामल-मणि-श्यामा-सम दिव्य-अलौकिक-धृतिधारी ;  
 भव-भयहारी, मंगलकारी और विघ्न-कुल-संहारी—  
 कोई नीलन वनज-वन मेरे समी मनोरथ पूर्ण करे ;  
 मेरी मति को प्रखर बनाकर उसमें भव-हित-भाव भरे ।



॥ पृथ्वी । † सुख-रुमल, नेत्र-कमलादिक कई नील कमलों से सयुक्त अर्थात् नीले कमलों के वन के समान भगवान् श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र मुझे सफल मनोग्रथ करें ।



## पहला संगे

( १ )

जटिल जटा-युत तरु-वर-कानन है शुचि जटाजूट का जास ;  
मानस-मोहन-भन्व-भाज में मानस है उपनयन विशाल ।  
सर्प नाग, हिम अर्ध-चंद्रमा, रज है जिसके भूति जलाम ;  
ऐसे भारत-गंगाधर को करता है मैं प्रथम प्रणाम ।

( २ )

ब्रह्मलोक - शिवलोक - सुरचित विष्णुधाम है भारतवर्ष ;  
देवनी-युत देवलोक है, भूदेवी को देता हर्ष ।  
है अकलंक-मयंकलोक यह, वन वसुधातल सुधा-निधान ;  
इंद्रलोक है, ऐरावत - सम कुंजर का हो वासस्थान ।

( ३ )

है सुंदर-बंधवलोक यह जहाँ वेद - विधि - गान - विधान ;  
रवि-प्रतिविधित विपुल-जलाशय-मिष है मिहिरलोक धुतिमान ।  
सुनि - मन - मोहिनि - कन्याओं का कहलाया जो जन्मस्थान,  
ऐसा नागालय होकर यह नागलोक का है उपमान ।

( ४ )

सब देशों का तिलक, पुरोपति और कला-कौशल का गेह—  
प्रथम यही है, धारण करके पुरथ-भूमि की अक्षय देह ।  
सकल लोक का गौरव है यह, आदि सृष्टि का है आधार ;  
है वैकुण्ठ - सदृश यह भारत, वन भगवान - भूति भास्वर ।

( ५ )

महिमामयी महामाया का है यह क्रीडा - गृह कमनीय,  
लीलामय भी इसे मानते निज - लीला - शाला महनीय।  
रुचिर-उर्वरा-भूमि-भवन वन और महा - धन - धान्य - निधान—  
यह विमान करता देशों को होकर विष्णु विचित्र ॐ विमान।

( ६ )

है यह भव - विज्ञान - विधायक, धर्मशास्त्र - उद्भव - आगार;  
है आघार वेद - विमुक्ता का, मुक्ति †-श्रुक्ति का पारावार।  
हार त्रिलोकी - ललना का यह, निराकार - अवताराधार;  
पार यही भव से करता है, हरता है अघ-शोध-विकार।

( ७ )

अकथनीय होने पर भी यह वर्णनीय रहता सर्वत्र;  
अद्वितीय यह, किन्तु बहुत - से हैं प्रदेश इसमें एकत्र।  
अप्रमाण्य होकर यह करता सप्रमाण्य रहकर सब कर्म;  
धर्म - धुरंधर होकर भी यह तरह - तरह के रखता धर्म।

( ८ )

शासक है यह परपरा से फिर भी करता पर - आदेश,  
शासित है यद्यपि विदेश से, पर तो भी है यह देशेश।  
है अनजान जान पड़ता, पर रखता है यह ज्ञान विशेष,  
गुरु होकर भी धारण करता दीन-शिष्य का-त्ता यह वेध।

( ९ )

पीड़ित होकर भी यह अरि पर दिखलाता है करुणाभाव,  
है अद्भुत यह बात, शत्रु से करते रहना यों घरताव।

● स्थिर होने से अद्भुत। † निर्वाण मुक्ता की जन्मदायिनी सीपा का समुद्र।

होकर राम छ - चरित्र - युक्त भी रत रहता यह कृष्ण † - चरित्र ;  
दोनों ही शोभा दें इसको, कैसा है यह योग विचित्र !

( १० )

कई बार पर-पर होकर भी कहलाता यह हिंदुस्थान ;  
रहता 'आर्यावर्त', 'बुद्ध', 'जिन', 'ईशु', 'मुहम्मद' को भी मान ।  
होकर अवनति - पतित आज भी रखता है यह निज उत्कर्ष ;  
और देश ऐसा न कहीं है, जैसा है यह भारतवर्ष ।

( ११ )

पूर्णतया स्वीकृत करते हैं दूर - दूर के भी विद्वान—  
भारत में ही प्रथम किया है ब्रह्मा ने निज सृष्टि - विधान ।  
है यह सबसे श्रेष्ठ, पुरातन, पावन और सभ्यता - युक्त ,  
सबसे पहले इसी देश के मर्त्य हुए हैं जीवन - मुक्त ।

( १२ )

और देश के मनुजों को जय नहीं हुआ था कुछ भी ज्ञान ;  
तब योगीजन यहाँ ब्रह्म का करते थे सुखदायक ध्यान ।  
औरों को जय ज्ञात नहीं था, विद्या का है क्या उपयोग ;  
यहाँ नीति के कठिन प्रश्न तब हल करते थे पंडित लोग ।

( १३ )

और जगह जय जन करते थे नर - भक्षण का कुरिस्त धर्म ;  
यहाँ अहिंसा का तब बालक बनलाते थे मानव - धर्म ।  
और लोग ये नहीं जानते कृती बनाना भी जिस काल ;  
शिक्षण - फलामय थे तब इसके नभ - चुंबां प्रासाद विशाल ।

( १४ )

बने हुए थे जगतीसल के और देश जब जंगल - धाम ;  
करते थे आराम - गृहों में यहाँ धनीजन तब आराम ।

● सुंदर और आराम सबको । † अमुदर और श्रीकृष्ण-विषयक ।



और जगह लय माने जाते थे आयुध केवल पापाय ;  
तब यह करना जान गया था शस्त्र - शस्त्र से अपना त्राण ।

( १५ )

और देश अज्ञान - गगन में तारे गिनते थे जिस काल ;  
यहाँ गणक - गण तब गिन - गिनकर कहते थे तारों का हवाल ।  
और लोग लय मर जाते थे भोग - भोगकर भीषण रोग ;  
वीथन - दान यहाँ करते तब औपधियों के विविध प्रयोग ।

( १६ )

और लगह लय नहीं हुआ था वस्त्र - विरचित - वस्त्र - विचार ;  
यहाँ अपराध करती थीं तब सुदर सोलह शृंगार ।  
औरों को लय ज्ञात नहीं था, होता क्या आतिथ्य पदार्य ;  
यहाँ दीन भी करते थे तब भिक्षुक - पोषण - सा परमार्थ ।

( १७ )

आदि - देश - गिरक कहलाता यह भारत ही केवल एक ,  
इसने गिरा पाकर भय तो उपदेशक हो गए अनेक ।  
जैसे दिल को अपना गुह - घर मान रहा है शिष्ट - समाल ,  
वैसे ही नय देश हृदय में इसे समझने है गुराज ।

( १८ )

हो नाचें वे शिष्य भले ही थाज दुःशिव्य, महा - गुण - और—  
नीरु इसी में दिवा, उसको प्रजनाचें हम पर ही, और,  
किन्तु नदा रज्जुगा यह तो उन नय पर पूरा गुरु - भाव ,  
क्योंकि सुश्रुतों ने भी दस्ता पिता सदा श्रद्धा बरगा ।

( १९ )

तो यह कथने श्रेष्ठ न लोका पावन और जाति का मोह ,  
तो क्या होता प्रकट यहाँ पर नारायण धारण कर देह !

● पुन और विद्या, शिष्य और गुरु के भी परमार्थ-यो है ।

सबसे प्रथम विधाता भी क्यों रचता, रुचिर हूँसी में सृष्टि ?  
और हूँसी पर शिव भी करते क्यों सुदृष्टि की संतत वृष्टि ?

( २० )

श्रेष्ठ, सनातन - धर्म - धुरंधर होकर भारत महिमावान—  
पय, रत्नाकर, भी कहलाता वन लक्ष्मी का जन्मस्थान ।  
पावनता - उशपत्ति - निकेतन, नर - नारी - रत्नों की खान,  
है गुण - गौरव - गरिमा का यह सिद्ध - पीठ - विज्ञान - निधान ।

( २१ )

चंदन-हरिचंदन-युत इसको स्वर्ग मान, तजकर देवत्व—  
प्रथम हूँसी पर प्राप्त किया है कई सुरों ने प्रिय - मनुजत्व ।  
और अनेक देवियों ने भी छोड़-छोड़ अपना परिवार—  
यहाँ किया है वास जानकर इसे अधिक - पावनतागार ।

( २२ )

नारायण-वचस्थल का भी मानो कर अपमान महान—  
निधिपति-कर-ज्ञाजित अलका को ललामता में कम अनुमान—  
सुंदर छवि का दर्शन करने, हरने को अपना संताप—  
हरिप्रिया इस पुण्य - भूमि पर कभी फिरी थीं वन-वन आप ।

( २३ )

योगीजन - मन - रमण - रमापति - अशरण्य - शरण्य चरण्य सुपवित्र,  
ब्रह्म-कर्मदलु, महादेव की जटाटवी, नृपति-नात्र, विचित्र—  
तज ऐसे पावन - धामों को, कर इस पर इच्छित दृक्-पात—  
विसर्जिता होकर भी बसती भागीरथी यहाँ दिन-रात ।

( २४ )

सविता पिता और भिज आत्ता धर्मराज का भी कर त्याग,  
भुवन - भव्यतम - भानुलोक को भीपण जान, छोड़ अनुराग—

\*कल्पवृक्ष । † जहू राजा, जिसने गया को अपनी जवा में धारण किया था ।

भारत - पावनता - विमोहिता यमुना ने निज वासस्थान—  
हमी भूमि को नियत किया है सबसे श्रेष्ठ और शुचि मान।

( २५ )

छोट-छादकर ब्रह्मलोक को, त्याग सुखद सुर-धाम ललाम—  
ब्रह्मा, ब्रह्माणी, नारद को करके सादर नम्र प्रणाम—  
भारत-वसुधा-शुचिता-सुग्धा-सरस्वती भी यहाँ विराज—  
गंगा-यमुना से मिल भूली तन-सुधि अंतर्हित के ध्यान।

( २६ )

महामहिसतम विष्णुलोक को तज, जो था शोभा-भाँडार—  
वन - विहार - द्वित और देखने दिव्य - अयोध्या का शृंगार—  
रवि कुल-अमल-दिवाकर होकर किया विष्णु ने यहीं निवास ;  
रावण-वध-मिप-भाघ, क्योंकि था वह उनका भ्रू-भंग-विलास।

( २७ )

जिनके श्यामल पद-रुमलों पर भूपति-सुकुट-पीत-मणि-कांति—  
पड़कर पैदा कर देती थी उनमें हरिदाभा की आंति।  
और सदा जो शिव-मानस में वन मराल रहते स्वच्छंद,  
भूपित करके भक्त-हृदय को भरते हैं उसमें आनंद।

( २८ )

वे मर्यादा-विषय, पुरुषोत्तम, भीषण-भय-हारी रघुनाथ—  
जिनके चरणों पर होते थे प्रणमित गुरु-गौरव के साथ।  
वे प्रात-स्मरणीय, नीतिविद, श्रेष्ठ, वशिष्ठ महर्षि, द्विजेश—  
इसी भूमि पर जन्म प्राप्त कर लाभ कर सके सिद्धि अशेष।

( २९ )

जो यह महापवित्र न होता, तो क्यों विद्वान्मित्र-समान—  
यहाँ धोर राजर्षि चन्मते होने को ब्रह्मर्षि महान ?

रावण - से अभिमानी, शुक से ज्ञानी, यक्षि-से दानी भूप—  
ध्रुव - प्रह्लाद - समान यहीं पर भक्त हुए है बाल - स्वरूप ।

( ३० )

महाब्रह्मचारी, बलधारी, भव - भय - हारी, ज्ञान - निधान—  
राम - नाम - अनुरक्त, भक्त - धर, रक्त - वेप - धारी हनुमान—  
और राम - सम पितृ-परायण, परशु - शस्त्र - विद्या - आचार्य,  
यही हुए वाल्मीकि आदि - कवि, विज्ञानी, साहित्याचार्य ।

( ३१ )

तारण - तरण राम को जिसने पाँव पखार उतारा पार—  
हुआ यहाँ ही वह 'गुह', जो था बुद्धि - वीरता - प्रेमागार ।  
जांबुवान - मे भालु भयंकर, महाशक्तिशाली, दीर्घायु—  
भारत में ही जन्मे आकर गीधराज - संपाति - जटायु ।

( ३२ )

सद - चित् - धन - आनंद - स्वरूपी, सोलह पूर्ण-कला-संपन्न—  
योगीश्वर श्रीकृष्णचंद्र भी हुए यहीं पर थे उत्पन्न ।  
बुंदावन, बरसाना, गोकुल, मथुरा में वे फिर सहर्ष ;  
मनमोहन को भी अति प्रिय था यह मन-मोहन-भारतवर्ष ।

( ३३ )

यही नहीं, वे महासुगव थे भारत-शुचिता पर दिन-रात ;  
इसके रज - फण तन पर मलते मह्ययुद्ध करके पश्चात् ।  
मोर-मुहुट को धारण करके धनकर धनुषम कांति-निधान—  
मुरलीधर ने यहीं सुनाई नधुर - मधुर मुरली की तान ।

( ३४ )

वेदों के संस्कर्ता, सारे संशय - हर्ता वेदव्याम—  
बना रोगा प्रलय-काल तक तिनका विद्या-जनित विकाम—

खिला जिन्होंने अनुपम 'भारत', भव्य भागवत, दिव्य पुराण—  
वे जन्मे थे इस- भारत में, गुण पर होकर मुग्न महान ।

( ३५ )

दुर्योधन - से भूप हठीले, अर्जुन - सुत-मे छ पात्क - वीर—  
हुए युधिष्ठिर - से सत्य-व्रत और भीष्म - से त्यागी, धीर ।  
भीम और अर्जुन-से चम्रिय यहीं हुए थे शक्ति - निधान ;  
मय दानव - से शिल्पकार का यही देश है जन्मस्थान ।

( ३६ )

प्रति पावन-शोभन है भारत, ऐसा निज मन में निर्धार—  
सुददेश ने, महावीर ने लिया यहाँ ही था अवतार ।  
वे हृष्टा करते, दे देते बैठे - बैठे ही सब ज्ञान ;  
पर शिक्षा - दीक्षा के निप था भारत-दर्शन सपय प्रधान ।

( ३७ )

आकर जन्में इसी देश में विद्या - प्रेमी, महाठदार—  
विक्रम और भोज-से राजा कविता - कल्पित - बला - आघार ।  
कामिदास - तुलसीदासादिक - जैसे कवि-सम्राट् महान ;  
यहीं हुए थे राजनीतिविद् महाचतुर चाणक्य - समान ।

( ३८ )

मंदोदरी, द्रौपदी, कुंती, तारुण्डह्या, परम पवित्र—  
जन्मी थीं ये सब कन्याएँ इसी देश में महा - विचित्र ।  
सावित्री-की सुंदर सतिथी यहीं हुई थीं गुण की खान -  
लीलावती - सद्य विदुषी का भारत ही है जन्मस्थान ।

( ३९ )

कहें कहीं एक, इस भारत में हुआ एक से बढ़कर एक ;  
पैदा करता खला आ रहा है यह रत्न अमूल्य अनेक ।

\* इतिमन्तु । † यहाँ पर केवल नाम-संज्ञना है, सुगन्धना गीत है ।

जब तक होगा नहीं भयंकर प्रलयकाल से विश्व-विनाश—  
तब तक इसमें नर - कुल - दीपक फैलावेंगे परम प्रकाश ।

( ४० )

होते सदा । रहेंगे इसमें धीर, वीर, गभीर, सुजान,  
वित्तवान, धृति ज्ञानवान-जन, वर-विद्या - बल - बुद्धि - निधान ।  
यह करता उत्पन्न रहेगा सदा - सर्वदा करके बल—  
'लोकमान्य,' 'सुकर्वाद्र,' 'महात्मा,' 'महामना'-से मानव-रत्न ।

( ४१ )

कई-देश जो बड़े-बड़े हैं बल-विद्या में इससे आज—  
'इसको' है उनका भी गौरव, क्योंकि यही सबका गुरुराज ।  
यह अतीव हर्षित होता है निज शिष्यों को उन्नत ज्ञान ;  
कला और कौशल में उनको अपने से भी बढ़कर मान ।

( ४२ )

शिष्य-रूप देशों की उन्नति ही है अब भी इसका ध्येय ;  
'रथ-विद्या सिखलाकर सारी इसने उनको किया अजेय ।  
उनकी देख वित्त-बोलुपता धन देता यह उन्हें अमीन ;  
क्योंकि चाहता नहीं देखना यह शिष्यों का वदन मलीन ।

( ४३ )

भू-जल-वायु-मान-रचनाएँ क्यों न कर सकेंगे वे देश ?  
जब इसने विधि बतला दी है, सिखला दी है युक्ति अशेष ।  
है 'गुरु का कर्तव्य' स्पष्ट-विधि बतलाना वन मृदुता-धाम ;  
कार्य-रूप में खाना उसको होता है शिष्यों का काम ।

( ४४ )

सहकर अत्याचार हज़ारों-तखवारों के वार अपार—  
'मार लाठियों की, हँडों की और गोदियों की बौद्धार—

चूँसक करता नहीं कभी यह होकर भी बलवान, प्रवीण ;  
क्योंकि अहिंसा-व्रत है इसका, जिससे अरि हो जाते जीण ।

( ४५ )

भस्माच्छन्न वह्नि-सम इसमें छिपी हुई है अतुलित शक्ति ;  
ध्रुवसर पा करके यह उस पर प्रकट करेगा निज-अनुरक्ति ।  
गुह होकर शिष्यों के ऊपर नहीं उठाऊँगा हथियार—  
इसके मन में अहो ! आन भी बना हुआ है यही विचार ।

( ४६ )

यह उनको सर्वत्र दे चुका बल-विद्या, अपना धर-धार ;  
उनके लालन-पालन का भी इसको रहता सदा विचार ।  
अपनी महाहाति सहकर भी यह करता उनका कल्याण,  
इस दिगदी हालत में भी तो यह रखता है उनका मान ।

( ४७ )

तो भी वे गुण-धौर, निष्कामे मूढ़ विना भी देकर ताव—  
यन कृतज्ञ करते हैं इससे धान शत्रु का-सा बरताव ।  
निर्त्मदेह बुरा होवेगा उन शिष्यों का ही तत्काय ;  
इसका बाल न बाँका होगा उच्च रहेगा उन्नत भाव ।

( ४८ )

इत पंडित्त भारत-सागर में धुटनों तक ध्रुव भी है कीच ;  
नीर-दिहोन-भीन-सम सारे तडफ रहे हैं जिसके बीच ।  
किंतु पूर्ण आशा है उनको, ईश्वर-दया-दृष्टि की वृष्टि—  
सुखी करेगी सबको गीतल-अनल-कमल की करके चृष्टि ।

( ४९ )

शीघ्र फैल जावेगा इसकी जनता में समतानय स्नेह,  
हर्ष - वित्त - संयुक्त बनेंगे उजड़े हुए प्रजा के गेह ।

✓ घर-घर में आनंद-शांति का हो जावेगा पूर्ण निवास ;  
 ज्ञान-भालु की भालु करेगी फूट, फूट - तम - तोम - विनाश । ✓

( ५० )

एक दूसरे के प्रति मानव प्रकट करेंगे अति - अनुरक्ति ,  
 शक्ति बढ़ावेंगे मित्रों की रख ईश्वर में श्रद्धा-भक्ति ।  
 इन सारी सुंदर बातों का होगा यह अंतिम परिणाम—  
 भारतवर्ष बनेगा फिर से बल - विद्या - वैभव - धन - धाम ।

( ५१ )

ब्रह्म-विज्ञ होकर सब ब्राह्मण बनजाएँगे अति स्वच्छंद ;  
 क्षत्रिय - वीर धर्म - रण करके पाएँगे जय का आनंद ।  
 वैश्य - जाति व्यापार - वृद्धि में होगी अतिसंपत्ति - निधान ,  
 शूद्र लोग सेवा - रत होंगे प्रभुओं से पाकर सम्मान ।

( ५२ )

आदि-काल से जो है सबसे सुंदर, सम्य, विभूति-निधान ;  
 जिसके सदृश नहीं त्रिभुवन में देश दूसरा महिमावान ।  
 वही भव्यतम यह भारत है 'नल नरेश' का जन्मस्थान ;  
 भीम - सुता दमयंती भी है इस भूतल की ही संतान ।

( ५३ )

वदनीय यह पुराय-भूमि है, महाश्रेष्ठ है क्षत्रिय - वंश ;  
 जिसमें लोरु जन्म बन गए जो अनुपम नृप-कुल-अवतंस ।  
 जिनके चरित-उद्यम में होते कवि-पुंगव भी नहीं समर्थ ;  
 उनकी गाथाओं के गुंफन का प्रयास मेरा है व्यर्थ ।

---

\* ज्ञानरूपी मूर्य की ( भालु ) किरण ( फूट ) फूटकर ( फूट ) वैमनस्य-  
 विद्वेषरूपा अथकार-समूह का नष्ट करेगा ।



( २४ )

कवि-कोविद-रवि-सम्मुख मैं हूँ मंद दीप्तिशाला लघु-दीप ;  
 दया प्रकार फैला सकता हूँ स्थित हो करके सूर्य - समीप ।  
 दिनपति के पावन पूजन में दीपक भी देता है काम—  
 उसको भी 'पूजा जाता है, वह भी है मुद मंगल-धाम ।

( २५ )

विना किष्ट दीपक का पूजन, रवि-पूजा का है न विधान—  
 ऐसा जान हो गया मेरे मन को यह विश्वास मदान—  
 पूलेंगे इस दीपक को भी रवि-पूजन धावर के साथ ;  
 क्योंकि वेद-भनुमार पूज्य है दीपक और दिव्य - दिननाथ ।

( २६ )

जो फोहं ऐसा न करेगा, तो होगा न मुझे संताप,  
 धर्म-शास्त्र-भ्राजा का सडन वह कर लेगा अपने आप ।  
 जो रधि-पूजन-योग्य नहीं है, यदि उससे होगा अपमान,  
 तो इसकी चिंता न मुझे है, इसका नहीं तनिक भी ध्यान ।

( २७ )

किसी रस का नहीं निरादर तब तक करते हैं मणिकार,  
 जब तक उसके गुण-अवगुण का वे कर लेते नहीं विचार ।  
 यही एक इच्छा है मेरी, नहीं और कुछ चाहूँ धाम—  
 भले-बुरे इस महानाग्य को अपना लेवे लुक्वि - समाज ।

( २८ )

इसको पढ़, सुन और मनन कर पाएँगे वे सज्जन हर्ष—  
 तिनका चित्त मुदित होता है देख दूसरे का उदकपं ।  
 पां औरों की मदिमा सुन्दर मन में होते सुखी महान ;  
 कभी नहीं पर-निदाओं को सुन पाने हैं लिनके कान ।

( ५६ )

जो प्रतिदिन निज तन-मन - धन से पर - हित में रहते लवलीन ;  
नाम - मात्र जिनका लेने से पावन बन जाता है हीन ।  
प्रेम - भाव दिखलाते, सबके सदा वने रहते जो मित्र,  
उन्हें करेगा सुदित मनोहर ॐ नल - दमयंती - चारु - चरित्र ।

( ६० )

किंतु सदा जिनके दुर्मुख में पर - निंदा - विप करता घास ;  
जो अपना कर्तव्य मानते करना पर - यश - काया - नाश ।  
ऐसे मनुज - वेप सपों से किसको भय होगा न महान—  
हैं जिनकी श्रुति मंद दृष्टि में सभी वस्तुएँ दोष-निधान ।

( ६१ )

वैर विना कारण करके जो नहीं चाहते पर - उल्कार्य ;  
सदा कलंक लगाने में ही जिन्हें प्राप्त होता है हर्ष ।  
ऐसे अज्ञानी दुर्जन ही सबकी हँसी उठा दिन - रात—  
झूठ ! जला करते मन - ही - मन देख - देख पर-उदय-प्रभात ।

( ६२ )

भुवन-विमोहन मधुर स्वाद - युत कविताऽमृत-रूपी पय-पान—  
दुष्ट - भुजंगम द्वेष - गरल की करता है अभिवृद्धि महान ।  
सज्जन-यश-धनघोर - दृष्टि से दुर्जन - हर्ष - आकन्तर - पत्र—  
वैभे ही गिर जाता, जैसे कामी - कुटिल भूप का छत्र ।

( ६३ )

जो जिसके गुण नहीं जानता, वह उसका करता अपमान ;  
फल-दल-हीन सुमेरु-शैल को कहते हैं कपि दोष-निधान ।  
शून्य-हृदय इस महानंद को कभी नहीं सकता है जान ;  
क्या होती संतान-सुखों की कहीं नर्पुंसक को पहचान ?

\* मन को हरण करनेवाला नल और दमयंती का सुंदर चरित्र ।

( ६४ )

अपनी महामूढ़ताओं को दुष्ट नहीं देता है दोष ;  
दुर्बल-देह मनुज करता है बार-बार बरझी पर रोष ।  
गाना जिसे नहीं छाता, कब उसने ठीक बताया साज ?  
अंधकार दीपक के नीचे नहीं देखता दुष्ट-समाज ।

( ६५ )

चौर-दृष्टि में सभी चौर हैं सब्बे, सीधे, साहूकार ;  
भूतों को ही मूढ़ टोखते विद्याओं के पारावार ।  
जो अपने को मान रहे हैं मेधावी, भक्तिमान, महान—  
कहते हैं विद्वान उन्हें ही पशु-समान अज्ञान-निधान ।

( ६६ )

ऐसे मनुजों को करता हूँ नमस्कार मैं बारवार ;  
और यही कहता हूँ उनसे, सोच समझकर, खूब विचार—  
वे इसके छे अवलोकन का भी करूँ न अनुचित कभी प्रयास,  
उन्हें नहीं यह होगा रुचिकर, है मुझको इसका विरवास ।

( ६७ )

सुननों से अति-नम्र-भाव से कहता हूँ यह अतिम बात—  
पक्षपात तलकर वे इस पर निज-सम्पत्ति देवे अचिरात् ।  
मिथ्या गान करें न गुणों का, हो न सत्यता से संताप,  
क्योंकि सत्य-सा पुण्य नहीं है, और झूठ-सा कहीं न पाप ।

( ६८ )

अधिक क्या कहूँ, उन्हें ज्ञात हैं भले-सुरे सब मनुज-चरित्र ;  
निज-मन को पावन रखने से उन्हें दोखते सभी पवित्र ।  
मानस-सुदूर समल होने से अमल ज्ञात होगा न पदार्थ ;  
हृदय-स्वच्छता पर सब निर्भर, कहते हैं यह वेद यथार्थ ।

\* 'नल नरेश'-नामक महाकाव्य के ।

( ६६ )

आदर किए बिना कस्तूरी निज परिचय देती तत्काल ;  
जल का जल, पय का पय करता बिना कहे ही मंजु मराल ।  
विनय बिना ही भले-दुरे का सज्जन बतलाता है हाल ,  
श्रेष्ठ औहरी के कर में ही करता प्रकट गुणों को जाल ।

( ७० )

गंगा का, अपवित्र भस्म का रखते हैं शिव मान समान ;  
मणिके साथ तुच्छ मुक्ता का करते हरि सम्मान महान ।  
सुरतरु - सुमन - संग किंशुक भी पा जाता जैसे सत्कार—  
वैसे ही कवियों का होगा 'नल नरेश' आदर - आगार ।

( ७१ )

साथ पुष्प - माला के बनकर तुच्छ सूत्र भी गौरव - धाम—  
इंद्रादिक देवों के सिर पर लगता है कैसा अभिराम ?  
यह अनुमान, लिखा है इसको, पावेगा यह भी कुछ मान—  
उन कविताओं की संगति से, जिनके लेखक हैं विद्वान ।

( ७२ )

जो कुछ है, सो आज आपके सम्मुख है यह काव्य विशाल ;  
इसकी दूटी - फूटी कविता पद भूँ लें आप सँभाल ।  
क्या मैं, क्या मेरी मतिमत्ता, इसमें है जो कुछ भी सार—  
वह है 'रामप्रताप' ❀ - अनुग्रह, 'वेदव्यास' - कथा - विस्तार ।

( ७३ )

नाटक, ग्रंथ, कथामक जितने हैं नल - विषयक, विलसित - गात्र—  
जिनको सुना, गुना है, उनके लेखक धन्यवाद के पात्र ।

❀ मेरे पूज्य पिताजी का शुभ नाम । आपका २० मार्च १९३२ को,  
दिन के ११। बजे, श्रीकृष्ण रटते-रटते, वैकुण्ठवास हो गया ।

विभ्र - सुदामा के तंहुल-से घन्यवाद ये मेरे आज—  
 क्यों न करेगा मन से स्वीकृत कृष्य-समान कवींद्र-समाज ।

( ७४ )

श्रुटियाँ करना मज्जुन-धर्म है, उन्हें समा करना प्रभु-कर्म ;  
 धय - विद्या में वृद्ध आप है, स्वयं जानते हैं सब मर्म ।  
 किंतु यही आशा है, मेरे दोषों पर करके न विचार—  
 इसे आप अपना लेंगे यादि - अंत तक देख, सुधारे ।

( ७५ )

कमी नहीं ऐसा हो सकता, दोषों में गुण हों न अनेक—  
 और नहीं ऐसा भी होता, हो न गुणी में दूषण एक ।  
 माया-झाया में होते हैं अथगुण-गुण-युत सभी पदार्थ ;  
 सफल गुणों की महाराशि तो रहती है केवल ईश्वरार्थ ।

( ७६ )

उन उत्तम गुण-गण-भय-हरि में यही चिन्तय है मेरी आज—  
 मेरे बंचल चित्त-पीच वे भरते हुए निरंतर राज—  
 हर कुमति नव, भरो भाव वर, करें प्रखर प्रतिभा का दान—  
 तत्परचात् सुचश भी देवें, हर लोके मेरा अज्ञान ।

( ७७ )

एक नाम शविद्या का वे देवें निज दर्शन अभिराम,  
 फिर सामीप्य मुक्ति का दर दे कर देवें सुभद्रो निष्काम ।  
 आशा है, निज भक्त-चिन्तय को गीभ्र मुनेंगे त्रिशुवन-नाथ ;  
 मन में, मन में, रस में, वन में रहने हैं जो आपके नाथ ।

( ७८ )

विद्या - बुद्धि - निधान, ज्ञानधान, धनधान जो—  
 ये सुज्ञान दे पान, है महान गुण - गान जो ।

( ७६ )

करता हूँ यश - गान ॐ नल नरेश भूपाल का ;  
हे जो महिमावान, नाशक जन - संसार का ।

---

● यश-गान । नल की महिमा का वर्णन ।

---

## दूसरा सर्ग

( १ )

वाणी-गुरु ❀ की बुद्धि जहाँ पर घनी दिवानी ,  
वाणी की भी धौर जहाँ थक जाती वाणी ,  
उसका वर्णन पूर्ण करेगा कैसे प्राणी ?  
विद्या-बुद्धि-विहीन और मुक्त-सा अज्ञानी ,  
तो भी दिग्दर्शन उचित निपथ-देश का जानकर ,  
है प्रयास मैंने किया गुरु-नाशे का ध्यान कर ।

( २ )

अति भीषण, कमनीय, कठिनतम कायावाले ,  
होते थे जो ज्ञात दूर से काले-काले ,  
ठीक नापना सिन्हें न्योम-भग का ध्याता था ,  
जिनको नर-कर नष्ट नहीं करने पाता था ,  
ऐसे गिरियों से घिरा रहता था यह देश-धर † ;  
जिसे मानते देव थे देवलोक से दिव्यतर ।

( ३ )

हरी-हरी धनराजि सर्वदा रहती इन पर ;  
जेता था विश्राम इन्हीं पर क्योंकि सुधाकर ।  
पुष्प-युक्त थे कहीं, कहीं पर नहीं पुष्पधर—  
ये, वे तारक-निकर, बना उन पर अपना घर ।

---

\* ब्रह्मा । गुरु = पिता । † निपथ-देश ।

सदा, सदागतिष्ठ सौख्य को देती थी सव और वह ;  
शैल-श्वास-भाति या कि थी शीतल-मद-सुगंध यह ।

( ४ )

लता, वृक्ष, पाषाण, धान्य के ये निधान थे ;  
प्राणी-जन्म - स्थान और ये धातु-खान थे ;  
रहते थे ये सदा निपथ के रक्षक होकर ;  
उसके अरि-हित और भयंकर भक्षक होकर ।

रहती शोभा-संपदा सदा वहीं की थी वहीं ;  
ये उसको बाहर कभी जाने देते थे नहीं ।

( ५ )

महाशक्ति से रचित, शक्तिशाली, अति दृढ़तम—  
ये ये रक्षा-हेतु देश की सैनिक अनुपम ।  
करनेवाले विफल देवपति-पवि के ये थे ।  
या धृतिमान-निधान, प्राकृतिक छवि के ये थे ।

या शोभा सीमा-सदन, मदन मदनहर † सुमन-हर—  
यने हुए ये ये सभी अति सुंदर गिरि-वर-निकर ।

( ६ )

ये नग पैदा कई तरह के नग करते थे—  
लो दिनमणि + नखि-गर्व, विष्णुमणि-मद हरते थे ।  
चलते थे ये अचल अचल भी कहलाकर—  
पल-पल छोड़ी चाल फैलकर इस अचला पर ।

वन अपंग ये लग्न थे धरणी-धारण-धर्म में †  
जट होकर भी दृष्ट थे प्राणा-पालन-कर्म में ।

\* पवन । † प्रकृति । ‡ पर्वत-प्रिय महादेव । + सयं, रश आर कौरतुम  
के प्राति-गर्व को ।



( ७ )

ये न वैद्य थे, सिंग् डीक दौपय देँ थे ;  
 ये न नृसिंह थे, सिंग् गनों का पी लें थे ।  
 ये कठोरताम नर्मी, नदपि ये दीनपाल थे ;  
 ये सुन्दर थे, नदपि दूर में नालाल थे ।  
 रहते थे वे इद्र के ढोप-पात्र ही सरंदा ;  
 धर्मों ददती निय्य थी नां भां इनकी सपदा ।

( ८ )

इनसे अन्दि, मन्दि, सिन्दि की नदियां बनकर—  
 बहती थीं सब ओर देस के बीच निरंतर ।  
 अलदागमः में सभी धमल जल में भरती थीं,  
 किंतु किमी की हानि नहीं ये कुछ करती थीं ।  
 इनसे परिपोषित मटा मस्य-शामां आराम थे ;  
 इनके तीरो, पर कडं वसे दुग् एर, प्राम थे ।

( ९ )

निपघ देश की भरा उर्वरा ही रहती थी ;  
 इससे कुछ भी कष्ट नहीं जगता सहती थी ।  
 होती थीं उत्पन्न वस्तुएँ गहाँ मनोहर ;  
 जन-समान के लिये बहुत उपयोगी होकर ।  
 खाद, बीज, जल की इसे नहीं जरूरत थी धमी ;  
 किंतु प्रथा-धनुमार ही ये आवश्यक थे सभी ।

( १० )

खेतों को लखड़ हरे, रूपक-जन-द्वय हरे थे,  
 उनके धन से और धान्य से धाम भरे थे ।

रूपक नाम का वृक्ष है। † सुन्दर, अभिराम । ‡ खडे बोलों में भी इसका प्रयोग होते देखा है । लखना, लेखना, पेखना = देखना ।

किसी तरह की आह और कुछ चाह नहीं थी ;  
 आती थी सब राह उन्हें, पर दाह नहीं थी ।  
 कभी किसी की प्रेरणा नहीं यंत्रणा थी यहाँ ;  
 किंतु धर्म की धारणा और मंत्रणा थी यहाँ ।

( ११ )

था जिनका वस काम दूष देना सदियों तक—  
 देती थीं जो वहा और उसकी नदियों तक—  
 रखते थे वे सदा धेनुएँ ऐसी नवजा—  
 महाश्यामला और पुनीता, पीता, धवजा ।  
 धूनको गोचर भूमि की थी न न्यूनता दुःखदा ;  
 अत अधिकता से यहाँ थीं गौएँ अति दुग्धदा ।

( १२ )

था निर्मल जल-वायु निषध का अतिगुणकारक ;  
 यत्नाते थे जिसे व्याधि का व्याधि-निवारक ।  
 वर्षाती वर्षा न यहाँ पर कभी अधिक जल ;  
 वृक्ष-वृद्धि के लिये शीत पड़ता था केवल ।  
 खोने नरमी धान्य की गरमी पड़ती थी यहाँ—  
 वृक्ष-फलों में पकता जिससे चढ़ती थी यहाँ ।

( १३ )

सुखमय समय-प्रवाह यहाँ था सतत बहता ;  
 घरना देकर क्योंकि घनागमल बैठा रहता ।  
 सब देशों से इसे मानकर महा मनोहर—  
 खाए भला उषार शिशिर बैठा था इस पर ।  
 था वसंत ऋतुराज भी पैर तोड़ बैठा जहाँ—  
 प्रकृति-दत्त सौंदर्य का भला ठिकाना क्या चहाँ !

( १४ )

आ करके मन यहीं हर्ष का हरा हुआ था ;  
 मगल-मानस क्योंकि यहाँ पर भरा हुआ था ।  
 सुप्त के मरासमुद्र मोद ने उमल-उमल कर—  
 लेते थे आनंद - हिलोरें सदा यहाँ पर ।  
 गत स्वर्गों की शांति के लारे सत को रींचकर—  
 था हृन् पर ढाला गया दोनो प्राँसें मींचकर ।

( १५ )

होती थी संसार-शक्ति की यहाँ ढलाई ;  
 बिकती थी सर्वत्र मोद की यहाँ मलाई ।  
 मानव-बल का यहीं कारजाना था उत्तम ;  
 शुभ शक्तियों का यहीं ज्ञाना था अति अनुपम ।  
 वीसो विसवा सत्य है यों कहना इसके लिये—  
 अजर-अमर भी सर्वदा मरते थे जिसके लिये ।

( १६ )

इसमें ग्राम जलान, पुरी पुर बडे बडे थे ;  
 जिनमें अचलाकार छे कई प्रासाद खडे थे ।  
 गंध-धाम-आराम यहाँ पर स्थान-स्थान पर—  
 देते थे आराम अमल जल - पवन पान कर ।  
 सुंदरता-आगार ही यहाँ बडे बाजार थे,  
 और राजपथ भी सभी निर्मलता - आधार थे ।

( १७ )

विद्यालय थे कई, निपध में न्यायालय थे ;  
 दानालय थे और कला के कर्मालय थे ।

● पर्वत के आकारवाले, अतिविशाल । † सबके ।

पहले, चौथे सदा भरे ही दिखलाते थे ;  
बाजी के दो किंतु रिक्त छ प्रायः पाते थे ।

इसका कारण था नहीं, जन-धनादि की न्यूनता,  
किंतु शुद्ध व्यवहार था, थी दरिद्र की शून्यता ।

( १८ )

एक-पतिन-व्रत-नियम नरों में था अति शोभित ;  
पतिव्रताएँ उन्हें सदा करती थीं मोहित ।  
निज वैभव से गर्व शची का जो खोती थीं ।  
वाणी के ही तुल्य श्रेष्ठ विदुषी होती थीं ।

ऐसी सतियों का यहाँ महामान-सम्मान था ;  
जो मानव-अभिमान था, देशोपति-पहचान था ।

( १९ )

दया-धर्म की, सभी गुणों की महाखान जो,  
विद्या-बुद्धि-निधान, अलौकिक शक्तिवान जो,  
सबका प्रिय गुरुराज, पढ़ानेवाला सबको,  
ब्रह्म-शिखर पर और चढ़ानेवाला सबको—

ऐसे ब्राह्मण-वंश का झंडा गडता था यहाँ ;  
पद-नख पुजता था यहाँ, डंका बजता था यहाँ ।

( २० )

रण-विद्या-शाचार्य, वीर्य-बलशाली, दानी,  
विभव धाम, निष्काम, महामानी, नय-ज्ञानी,  
कर्म-धर्म-लवलीन, प्रजा-प्रेमी, प्रिय शासक,  
धीर, चीर, गंभीर, विजेता, वैरी-नाशक,

थे ऐसे सशिव यहाँ, जो न काल-भय मानते ;  
पर-पीछा में और जो सर जाना थे जानते ।

\* पदमात्रिक ।



फरते थे सब गुप्त पेटल के बल से कथित ;  
 हो पैरों पर खड़े दास थे मन में हर्षित ।  
 एक धीर थे धर्म में, एक वीर थे वर्म † में ;  
 एक विज्ञ थे मर्म में, एक दृढ़ थे कर्म में ।

( २५ )

रक्षते थे निज लक्ष्य एक ही सब नर-नारी ;  
 धारण करते वेप एक ही थे सुखकारी ।  
 थी उनकी प्रति शुद्ध एक ही भाषा उत्तम ;  
 और मानते धर्म एक ही थे वे अनुपम ।  
 स्त्रीचान्तानी है नहीं मंत्रदाय-गण की जहाँ ;  
 बहती रहती है सदा शीतल गंगा ही वहाँ ।

( २६ )

भेदभाव का खेद नहीं इनमें बढ़ता था ;  
 छुआछूत का भूत नहीं इन पर चढ़ता था ।  
 रहता था सर्वत्र देश में चेम निरंतर ;  
 था मनुजों में क्योंकि यहाँ पर प्रेम परस्पर ।  
 स्त्रीजन पर सौभाग्य की लाही सजती थी यहाँ ;  
 और विश्व-बंधुत्व की चशी बजती थी यहाँ ।

( २७ )

धीरसेन के वड़े पुत्र, नन्द, अति बल-धारी ;  
 पराक्रमी, नीतिज्ञ और वैरी-बल-हारी—  
 शासन करते श्रेष्ठ निपथ में थे सुखकारी—  
 था वैभव का और शक्ति का जो संचारी ।  
 इसमें प्राची-भाद्र का शांति-सहित उत्कर्ष था ;  
 तीनों लोकों में अतः यही देश प्रादुर्भू था ।

\* गुप्त धन, अन्न-वस्त्रादिक । † रक्षा करने में ।

( २८ )

नक्ष महान विद्वान्, अलौकिक रूपवान् थे ;  
 बुद्धिमान् गुणवान् और शक्तिवान् थे ।  
 ह्य - विद्या - आचार्य, धनुर्धारी थे अलुपम ;  
 कीर्तिवान् थे, और प्रजा-पालक थे उत्तम ।

ज्ञानवीर थे वे महा, दानवीर, रणवीर थे,  
 सत्पवीर थे और वे दयावीर थे, धीर थे ।

( २९ )

वे धामन कर प्राप्त एक ही महा मनोहर—  
 ये चतुरानन-सदृश वेद-वाणी-प्रिय होकर ।  
 निज - पश - व्यापी और भक्तजन - वैभव - दायक—  
 होकर, ये वे महा-विष्णु-सम लक्ष्मी - नायक छ ।  
 मनुज-महेश्वर वे बने, नागराज † गया-पुष्टि-कर—  
 वामदेव थे वाम-दर दास-आशु ‡ मन-सुप्ति-कर ।

( ३० )

मित्र † - समान प्रताप-ताप-कारी कहलाकर—  
 ये वे मानव-मित्र लोक को सुखी बनाकर ।  
 रवि होकर भी सदा काम विष्टु का करते थे ;  
 दर्शक-मन में सौख्य-शांति को वे भरते थे ।  
 इंद्र-सदृश ये वे सदा, वज्र-प्रतिज्ञा-शक्ति-धर ;  
 दैत्य-दुष्ट-जनु-गारि थे, सुमनस ‡ विबुध-प्रमोद-कर ।

( ३१ )

बसते जिसके हृदय बीच हैं अंतर्धानी,  
 जो उदार, शंभीर, वाहिनी × गण का स्वामी,

\* श्रीलक्ष्मी आर राज्य-लक्ष्मी या मपत्ति । † हाथी और सर्प ।  
 ‡ आशुतोष=शिव । † सूर्य । § सर्वत्र श्लेष । × नदी और सेना ।

मर्यादा को नहीं तोड़नेवाला है जो,  
 शरणागत को नहीं छोड़नेवाला है जो,  
 ऐसे पयनिधि-सदृश वे नल वसुधाधिप थे अहो !  
 जहाँ सभी गुण-रत्न हों, वह रत्नाकर क्यों न हो ?

( ३२ )

नल-आनन को देख कांत कमलों का कानन—  
 उसे चंद्रमा मान, स्वयं होता मुकुलानन ।  
 पर जब उसमें दोष नहीं कुछ भी पाता था—  
 तब वह सविता मान उसे फिर खिल जाता था ।  
 था ऐसा ही वदन वह, मदन-वदन-मद-मान-हर,  
 बसता था जिसमें सदा हिसकर-दिनकर-गुण-निकर ।

( ३३ )

शुद्ध हृदय में शौर्य, शान्ति-सुख के बहने से—  
 और वहाँ दरसाह - धैर्य के भी रहने से—  
 अधिक दया सामर्थ्य, क्षमा के बढ़ जाने से—  
 और विरव - अनुराग - राग के बढ़ जाने से—  
 नल-वचस्थल आप ही उड़-उड़त था हो रहा ;  
 और इंद्र के वज्र का उग्र गर्व था खो रहा ।

( ३४ )

नाग-लोक को जीत और फिर शासन करने—  
 नागराज के भूमि - भार को अथवा हरने—  
 छिटक गई जो भजा जानुशों से भी बढ़कर—  
 थी ऐसी ही महाबाहुएँ नल के उदर ।  
 पुरावत भी दूर से हाथ जोड़ता था जिन्हें,  
 और फाल भी युद्ध में नहीं मोड़ता था जिन्हें ।



( ३५ )

सुरतक-किसलय-कमल-महा - कोमलता - नद - हर—  
 या नल का कर युगम धलौकिन्न रत्न-नाति-धर ।  
 शंखादिक सब चिह्न प्रकट सब ठसमें होकर—  
 बना रहे थे उसे और भी महा मनोहर ।

एकाकी ही वह उन्हें छ रखता अपने पास था—  
 और चतुर्भुज-रूप का करता यो उपहास था ।

( ३६ )

सिंधुज गज भी जिसे देख दुःखित होता था ;  
 और हाथ † का गर्व हाथ से जो खोता था ।  
 रंभा‡ जिसे निहार आप ही शर्माता था ;  
 रंभा को भी जिसे स्पर्श करना भाता था ।

ऐसा लंघा युगम था, नल का पावन, श्रेष्ठतम—  
 मृदुल, पृथुल, अति कठिनतम और असमसर + -करम-सम ।

( ३७ )

जिनकी छाया में न क्रांति की छाया आती—  
 और जहाँ पर सदा शांति हो यी जहराती ।  
 विष्णु-चरण में तिन्हें पूजते थे सुर उत्तम ;  
 देते थे जो शरय, सभी को विष्णु-चरण-सम—  
 नल के ऐसे पद-कमल, नत-नृप-शिर-भण्डि-स्पर्शकर—  
 होते जाते नित्य थे भजा और भी मृदुलतर ।

( ३८ )

ऐसे नल मनुजेंद्र, इंद्र-भद्र - गौरव - हारी—  
 निपध-देश में राज कर रहे थे सुख - कारी ।

छ शंखादिक सभी चिह्नों को अकेला नल-नर-युगम हा रखता था  
 † शूद्र, रूढ़ । ‡ केली । + कामदेव करस्य करमो वहि । § आकाश ।

कहवा करके अमर, अमर थे जिस पर मरते ;  
 थे शासन यों नही पाप्मशासन भी करते ।  
 सुर-न/मुनि-वर राव इसे दत्तजाते थे श्रेष्ठतम ;  
 क्योंकि सभी जन सुख यहाँ पाते रहते थे न कम ।

( ३६ )

धाराएँ छ उस काल नीर में ही रहती थीं ;  
 कच-कुच-भार अपार नारियाँ ही सहती थीं ।  
 दंडी को ही दंड वहाँ पर जन देते थे ;  
 धर्म - कर्म - अभियोग - हेतु ही धन देते थे ।  
 खड़ी एक रहती वहाँ धूप-घड़ी ही धूप में ;  
 पढ़ते थे फाँसी पहन कनक-कलश ही कूप में ।

( ४० )

पिट्ठा था घड़ियाल, गढ़े जाते थे गहने ,  
 पढ़ते थे कुड़ कष्ट कभी स्वप्नों में सहने ।  
 थे शिल्पी ही महादत्त करने में जागी ;  
 काजी थी तो वहाँ एक ही बस काफाली ।  
 लाली आँखों में नहीं, पाती थी पर रक्त में ;  
 और अंध - विश्वास था केवल सन्धे भक्त में ।

( ४१ )

ठढती थी बस धूलि वहाँ केवल सुमनों से ;  
 था शंखों का शब्द गूँजता सुर-भवनों से ।  
 करता था आराम तिमिर आराम-गणों में ;  
 रहती थी बस जलन ज्वलन † में, नहीं जनों में ।  
 रामायण में दीखता दनुज-उपद्रव था यहाँ ;  
 उसी स्थान पर क्लेश था, सभी शब्द मिलते जहाँ ‡ ।

\* यहाँ से परिसंख्यालकार है । † आर्द्र । ‡ कोप ( श ) में ।

( ४२ )

ये मधु-लोभी मधुप, नही नर-नारी पाते ,  
 नशा और उन्माद नगों में ही थे छाते ।  
 मन को छाता नहीं, कर्चों को काता होना ,  
 अभिनयः में ही एक वहाँ था रोना-धोना ।

भय था बस भगवान का, और किसी का था नहीं ;  
 प्याले पीते प्रेम के वहाँ मनुज थे हर कहीं ।

( ४३ )

ये सब गूंगे वहाँ एक मिथ्या भाषण में ;  
 ये कठोर भी सभी, किंतु मन के शासन में ।  
 मनुज कुटिल थे वहाँ शत्रु-यश के हरने में ,  
 और चौर थे कर्ह, चित्त-चौरी करने में ।

पंगु निषध में थे सभी निध-मार्ग-प्रस्थान में ,  
 अंग-हीन थे और वे इष्टदेव के ध्यान में ।

( ४४ )

संन्यासी ही वहाँ नियम, यम, संयम के बल—  
 बनोवास के कष्ट सहन करते थे केवल ।  
 होता था बस वहाँ सेतुओं का ही बंधन ;  
 सुमन-हीनता और सदा रखता था चंदन ।

सब कामों में मनुज को मिलती थी फल-संपदा ,  
 रहता था निष्फल वहाँ एक ईश्वर ही सर्वदा ।

( ४५ )

राम-राज्य-सम श्रेष्ठ-प्रेष्ठ था नल का शासन ;  
 कंपमान था जिसे देख भय से इद्रासन ।

था पुष्कर के हेतु, किंतु वह महाकष्टकर,  
 क्योंकि कुमुद-हित सदा सूर्य होता है सुख - हर ।  
 पूर्वाचंद्र भी पद्म को अच्छा लगता है नहीं ;  
 उत्तम शासन दुष्ट को भा सकता है क्या कहीं ?

( ४ )

पुष्कर मल का अहो ! सहोदर भी लघु होकर—  
 था न कर सका प्राप्त जन्म से प्रकृति मनोहर ।  
 कर्म-भाग्य-आधीन काम होता है सारा ;  
 नहीं किसी का दोष, नहीं कुछ इसमें चारा ।  
 होते हैं क्यों एक-से नहीं, वृथ के फल समी ;  
 जाना इसका भेद क्या कहीं किसी ने है कभी ?

( ४७ )

सुधा और विष विषम सहोदर कहलाते हैं,  
 किंतु स्वभाव, प्रभाव, प्रथक् ही वे पाते हैं ।  
 एक सीप में कई निकलते मञ्जुल मोती—  
 न्यूनाधिक ही कांति, किंतु है उनमें होती ।  
 निल कर्मां के जगत में फल पाते है वे नय—  
 कुछ तो भूपत्याहो गय, कुछ औषध में पिस गय ।

( ४८ )

खिलते पुष्प अनेक एक ही हैं शाखा पर,  
 रहते वे भी किंतु भाग्य का फल हैं पाकर ।  
 कुछ तो वन के बीच पदों से फुचले जाते,  
 कुछ मात्ता के लिये प्रेम से तोड़े जाते ।  
 दो सुदृष्टि श्रीखंडल के दो खंडों के हाथ पर—  
 एक चिता पर चढ़ गया और एक हरि-भासाँ पर ।

\* चंदन । † केसर के साथ पिसकर ।

( ४६ )

अंधकार का भार भूमि का हरनेवाले—  
 सभी लोक को ओर प्रफुल्लित करनेवाले—  
 ऐसे भी नक्षत्र एक-मे नम में छाकर—  
 हो जाते हैं निध निशाकर, दिव्य दिवाकर ।  
 एक खर तो वेष्ट का है धरती छ के साथ में ,  
 और दूसरा है भला वंशीधर के हाथ में ।

( ५० )

पुष्कर अपना हाथ कुपित होकर मलता था ;  
 नख-वैभव को देख बहुत मन में जलता था ।  
 उसके रूप के लिये युक्ति गढ़ता रहता था ;  
 और किसी से नहीं कभी भी कुछ कहता था ।  
 किंतु कभी पूर्वांत में नलराजा को देखकर—  
 उन्हें सुनाता प्रेम से मृदुल वचन ये मोद-हर—

( ५१ )

“हे प्रातःस्मरणीय ! महा महनीय ! सधु वर !  
 फरता हूँ यह बिनय आपसे हाथ जोड़कर—  
 राज-भ्राज में समय आपका सब जाता है ;  
 नहीं कभी भी खेल-कूद में वह आता है ।  
 ऐसा करने से प्रभो ! महाहानि है आपको ।  
 मेरे मन में कर रही जो पैदा संताप को ।

( ५२ )

“शासन के अतिरिक्त नहीं कुछ प्रभु को भाता ;  
 दुर्घटा महा शरीर दसलिये होता जाता ।

---

छ सनेता या काठ का एक चौखटा-भा, जिस पर शव को रखकर  
 स्मरण में ले जाते हैं ।

सबसे पहला धर्म देह-रक्षा होती है ;  
चतुर्वर्ग का बीज हृदय में जो बोती है ।

जनता-पालन छोड़कर इसका पालन कीजिए ;  
मृगया-धूत-विनोद से मोद स्वमन को दीजिए ।

( २३ )

“सयुक्त दुःखों को धूत गीघ्र ही हर लेता है ;  
शान्त चित्त को और प्रफुल्लित कर देता है ।  
श्रेष्ठ फला है नहीं जगत में कोई ऐसी—  
शक्ति आनंदागार धूत-क्रीड़ा है जैसी ।

आप कीजिए इसलिये कुछ इसका अभ्यास अब,  
जिससे मिट जाया करे शासन का अम-भार सब ।”

( २४ )

सुनकर ऐसे वचन दुष्ट भाई के मुख से—  
उत्तर में नव उसे लगे यो कहने मुख से—  
“राज-काल को छोड़, काम जो मेरा उत्तम—  
खेलेँ तुम्हसे धूत, बात है कैसी अनुपम !

प्रजा-पालना ही प्रथम राजाओं का धर्म है ;  
और श्रेष्ठ शासन सदा उनका पहला कर्म है ।

( २५ )

“धाते - जाते या कि उठाते - मरते - नीते,  
रोते - सोते और जागते - खाते - पीते,  
है नृप का कर्तव्य एक जनता - हित - चिन्तन,  
इसके पीछे उसे उचित है उसका साधन ।

\* धत की यह मिथ्या प्रशंसा है । नल को फुसलाने के लिये ही पुष्कर  
रसा कर रहा है ।

जन-मन-रंजन जो करे है राजा केवल वही ;  
नाम-मात्र ले लाभ क्या ? राजनीति कहती यही ।

( १६ )

“जो मैं खेळूँ घूत रात-दिन ज्ञान यहाँ पर—  
उत्तर दूँगा धंधु, ईश-सम्मुख क्या जाकर ?  
क्यों मैं तेरी तरह घूत-व्यसनी हो जाऊँ ?  
क्यों ऐसा आदर्श प्रजाजन को दिखलाऊँ ?  
अहो ! भूलाकर भी कभी कर लूँ जो इस काम को,  
तो वट्टा लग जायगा मेरे इस शुभ नाम को ।

( १७ )

“शासन-हित ही मुझे ईश ने जन्म दिया है ;  
जन-पालन के लिये और मनुष्येन्द्र किया है ।  
सहकर स्वयं विपत्ति प्रजा को सुखी बनाने—  
हैं सुख के सामान दिष्ट मुझको मनमाने ।  
इन सबका उपभोग है रोग लगाना देह के ;  
ताला करना बंद है देव-धाम के गेह के ।

( १८ )

‘देवा हूँ दुष्ट दोष नहीं मैं तुझको पुष्कर ।  
करता हूँ इस काल कोप भी और न तुझ पर—  
होती है वह बात क्योंकि जो होनेवाली ;  
काल-चक्र का वार नहीं जाता है खाली ।  
रहते हैं दिन एक-से नहीं किसी के भी कभी ;  
भाई ! इस लोकोक्ति को सुधी जानते हैं सभी ।

( १९ )

“माया को भी नाच नचानेवाले हैं जो ;  
सब लोकों को और रचानेवाले हैं जो ।

जिनका लेकर नाम मुक्त जन हो जाता है ;  
ईश्वरक्ष भी तो पता नहीं जिनका पाता है ।

ऐसे त्रिभुवन-नाथ ने वन-वन में फिरकर कभी—  
सहने के थे जो नहीं, कष्ट सहे थे वे सभी ।

( ६० )

“जो सोते हैं अमी सेज फूलों की सजकर ;  
बोटोंगे वे कभी तीक्ष्ण कंटक-शय्या पर ।  
सहकर श्रयाचार भोगते ध्यान कष्ट जो—  
और शत्रु को दीख रहे हैं नष्ट-भ्रष्ट जो—  
ऐसे मागव कल भजा गला घोटकर हाथ से—  
कर देंगे शरि को पृथक् प्राणों के भी साथ से ।”

( ६१ )

इतना कहकर वंद कर लिए नल ने लोचन ;  
बाह्य जगत का किया और फिर शीघ्र विमोचन ।  
दृश्य अनोखा एक उन्होंने देखा ऐसा—  
दिया नहीं था उन्हें कभी विखलाई जैसा ।  
उसके अंतिम भाग को दिललाता हूँ मैं यहाँ—  
क्योंकि जगत में पूर्णता मिलनेवाली है कहीं ?

( ६२ )

उसी महल में जहाँ निरक्षर वे रहते थे,  
और बंधु से जहाँ शमो वे कुछ कहते थे,  
देखा तापस वहाँ उन्होंने एक सुदुर्बल,  
श्रुपियों की-सी देह नहीं थी जिसकी उज्ज्वल ।

\* ईश्वरस्तवैशानः=महादेव । इत्यमर । † जो आज.. ने कल...से  
बंध है ।



जिसने रखले थे पफड़, तप से मन को मोडकर—  
एक सुंदरी के चरण, निज-वेदी को छोडकर।

( ६३ )

गद्गद वाणी-युक्त वात वह कुछ कहता था ;  
मानो भीषण दुःख-सिंधु में वह बहता था ।  
जिससे उसे निकाल नहीं सकती थी नारी ;  
पर करता था धरन एक मानव बलधारी ।  
खटा हुआ था शांति से जो उस स्त्री के पास में ;  
आँसू ही थे भर रहे जिसके कोमल हास में ।

( ६४ )

इसके आगे खड़े हुए थे महा मनोहर—  
दो प्राणी सुकुमार, चित्त में चिंतित होकर ।  
जिनको वेदी ज्ञात एक चौसर होती थी ;  
जिसके सम्मुख आज बही माता रोती थी ।  
जिसने कुंठिन-नगर को भेजा था उनको कभी—  
देकर निज बस्त्राभरण इसी तपस्वी को सभी ।

( ६५ )

मेद क्या है इस अलौकिक दृश्य का ?  
पूछिए मत, जान मन में जाइए ।  
छोड़ पाठक ! इस कथा को आप अब—  
'भीम राजा' के निकट में आइए ।

## तीसरा सर्ग

( १ )

या दक्षिण में देश 'निपध' के एक मनोहर ;  
तन्ते ये सुर गर्व स्वर्ग का जिसे देखकर ।  
अमरपुरी भी महामुग्ध होती थी जिस पर ,  
था वह ऐसा श्रेष्ठ, महापावन, सुंदरतर ।

( २ )

स्त्री में नव-जावय्य रूप जैसे भरता है,  
महासुंदरी नाम और उसका करता है,  
उसी प्रकार 'विदर्भ' देश स्थित होकर भू पर—  
वसुंधरा यह नाम धरा को देता सुंदर ।

( ३ )

जैसे सुंदर सती द्वार से छवि पाती है,  
और ब्रता पर कांति पुष्प से चढ़ जाती है,  
वैसे ही कर दिव्य देश को उर पर धारण—  
थी धरणी हो गई स्वर्ग-छवि-मद-त्तय-कारण ।

( ४ )

इस विदर्भ की महा मनोहर, श्रेष्ठ सजावट—  
अद्भुत-अनुपम छटा और रमणीय बनावट—  
चमड़ा करके सिंधु सदा सुखदा शोभा का—  
फरती थी उपहास विश्वकर्मा-रचना का ।

( ५ )

था शरीर द्युतिमान शैबमय सुंदर हसका,  
था शोभन निर्माण मनुज-सुख-दायक जिसका,

निकली गोदावरी उसी से महानदी है;  
जिनने छ किसको मुक्ति-युक्ति भी महा न दी है!

( ६ )

निर्मल जल-रुहोत, लोल इनमें चलती थी,  
जिसको मदाकिनी देख मन में जलती थी।  
इनके तट तपप्रांत वडे ही धन कानन थे,  
संतजनों के और वहाँ आश्रम पावन थे।

( ७ )

पशु-पक्षी थे सभी सौख्यकर और मनोहर;  
रहते थे जो सदा परस्पर प्रेमी होकर।  
नाम-भाष को भी न द्वेष का कहीं नाम था;  
नहीं काम से, किंतु काम से वहाँ † काम था।

( ८ )

कहीं-कहीं पर पुष्प प्रफुल्लित छवि देते थे;  
मृग-वृंद को बुला गंध से वे लेते थे।  
अपना मधु-मकरंद मधुर वे उन्हें पिजाते,  
होकर वे मद-मत्त मंजु गुंजार सुनाते।

( ९ )

भर-भर करते कहीं जोर से भरने बहते;  
'दर्शनीय है दृश्य' देख दर्शक यों कहते।

\* जिन्होंने ( गोदावरी और महानदी ) किस प्राणी को मोक्ष की महा युक्ति नहीं प्रदान की है। † उन आश्रमों में तपस्वी लोग कामदेव के बंधीमूढ़ नहीं थे, किंतु अपने काम तपश्चर्या से ही काम रखते थे।

खल-खल करता हुआ और फिर कल-कलछ, पल-पल—  
पल-पल † वहता वहाँ विपुल जल शीतल, निर्मल ।

( १० )

शीतकाल में वहाँ और ही शोभा पाती—  
धूम-गशि सम धुध धरो पर आकर छाती ।  
मानो गिरिवर-शिखर-निकर पर था विदर्भ-यग;  
स्थित होकर निज रूप जगत को दिखलाता बस ।

( ११ )

या विदर्भ-नृप-कीर्ति वहाँ शोभा पाती थी,  
जो नीरद का रूप बना दिव मे जाती थी ।  
अथवा भूप-प्रताप इदहन का धूम गहन अति—  
उदता था रवि-गर्व-दहन हित सहित तीव्र गति ।

( १२ )

या देती थी अर्घ्य सूर्य को प्रकृति प्रीति से,  
या अथवा अति भीत तिमिर × वह मानु-भीति से ।  
कहता था जो यही “छिपूँगा अथ मैं भू पर—  
शैल-सुंदरी-दूरी § नेत्र-सित अंजन वनकर ।”

( १३ )

इन शैलों से स्पष्ट दीखता था कुंडिनपुर ;  
थे सुर-पुर से श्रेष्ठ मानते जिमे सभी सुर ।  
हसके चारो ओर एक दृढ़ कोट बना था ;  
जो पुर-द्वि को रोक वहाँ-की-वहाँ रहा था ।

‡ जल के बहने का ध्वनि को प्रकटित करने के शब्द । † प्रतिक्षण ।  
‡ मम राजा के प्रतापानि का विचित्र ज्वेत धूम । × प्रकाश पडने के  
इसे श्वेत धुध भी अंधकार-सा प्रतीत होती है । § गुफा ।

( १४ )

पुर के बीचोबीच संगमरमर से निर्मित—  
 राजा का प्रासाद हो रहा था अति शोभित ।  
 लन-मन में यह भाव रूप या उसका भरता—  
 करती है कैलास-हास इसकी यह सितता ।

( १५ )

मशुल 'मोती-महल' एक था, जिसके ऊपर—  
 नवलनीलमणि प्रभा-युक्तनृप जिसमें सोफर—  
 होता था यों ज्ञान, क्षीर-निधि में विश्वंभर—  
 विष्णु सो रहे शुभ्र छ शेष-शय्या पर सुंदर ।

( १६ )

हरि-मंदिर थे वहाँ, शिवालय और सुधर थे ;  
 जिनके ऊपर लगे हुए शुचि स्वर्ण-शिखर थे ।  
 बाजारों के बीच रालपथ बड़े-बड़े थे ;  
 सैनिक सुविधा-हेतु जहाँ पर डटे खड़े थे ।

( १७ )

ये सुंदर, सुविशाल, सध-वर शोभा के घर ;  
 लगे हुए आराम रम्य थे जिनके पथ पर † ।  
 जिनमें शीतल-मद-सुगंध पवन ‡ चलता था ;  
 सभी तरह की और थकावट वह हरता था ।

( १८ )

ऐसे सुंदर, श्रेष्ठ नगर के 'भीम' भूप थे ;  
 दिव्य गुणों में और रूप में जो अनूप थे ।

\* शेषनाग का रंग ज्वेत है । † सम्मुख अर्थात् पहले बाग का दरप पीछे  
 महल का । ‡ इसे माघा में ख्रींजिग भों मानते हैं ।

जिनकी शक्ति त्रिलोक सुरासुर सभी व्यग्र थे ;  
कृपा-दृष्टि की वृष्टि चाहते वे समग्र थे ।

( १६ )

धनदोषम थे विभव और वे अपने धन में ;  
रखते थे शौदार्य राम के सम ही मन में ।  
ये वे सिंह-समान नहीं भय खाते रण में—  
और राम ॐ के सदृश बड़े पक्षे थे प्रण में ।

( २० )

होकर वे श्रीमान कुपथ में कभी न जाते ;  
नारदादि मुनिराज कीर्ति थे उनकी गाते ।  
तेजस्वी थे अतुल्य, प्रभाकर-तुल्य प्रभा में ;  
पवि से भी अति कठिन मात्र थे कर्कशात्ता में ।

( २१ )

देख देह-सौंदर्य मंद थी मन्मथ-छवि भी ;  
रखते समता नहीं कल्पना में ये कवि भी † ।  
निर्जर-गुरु के सदृश शास्त्र के वे थे ज्ञाता ;  
बलि राजा-सम और अलौकिक वे थे दाता ।

( २२ )

ऐसे भूपति भीम प्रजा को सुख देते थे ;  
बीच, मूढ़, चांडाल, शत्रु को दुःख देते थे ।  
द्विज-वचनों को उठा शीश पर वे लेते थे ;  
नाविक वन निज हाथ नगर-नौका खेते थे ।

---

● परशुराम । † जिनकी ( विचार-शक्ति ) कल्पना-शक्ति कवियों से भी  
बड़ी हुई थी ।

( २३ )

पुखी मनुज को देख शोक में वे होते थे ;  
 होकर उसका कष्ट एक क्षण में खोते थे ।  
 खोकर वे पल-मात्र नौद सुख की सोते थे ;  
 सोकर फिर सुख-बीज अन्य के हित बोते थे ।

( २४ )

कमला-जात \* अनंग धंग में उनके रहता ;  
 कमलापति† को साथ हृदय था उनका रखता ।  
 कर-कमलों में छिपी हुई थी उनके कमला‡ ;  
 रहती थी दिन-रात वदन पर कमला × अमला।

( २५ )

भूसुर§-पालक भीम भूमि पर भू-सुरेश † ये ;  
 वचन-वज्र-प्रिय इन्द्र-सदृश ही वे नरेश थे ।  
 होकर वे दैत्यारि अलौकिक विष्णु-रूप थे ;  
 कामदेव को जीत हो गए शिव-स्वरूप थे ।

( २६ )

वैर-भाव को चद्र और कमलों ने तजकर—  
 था सुवास कर लिया मनोहर भीम-वदन पर ।  
 गिरा, इंद्रिरा स्वर्ग-लोक से चित्त मोडकर—  
 रहती उनके पाप नदा थीं द्वेष छोड़कर ।

( २७ )

महाप्रतापी भीम हुए थे अनुपम राजा ;  
 जिनका कीर्ति-प्रसून रहेगा संतत राजा ।

\* लक्ष्मी-पुत्र, कामदेव । † वह विष्णु-भक्त थे । ‡ कर-कमलों में भी  
 का निवास था । × निर्मल सौंदर्य, योग्य, काति । § विप्र-पालक । † धृष्टी  
 पर रहनेवाले बृहस्पति ।

'कुंठिनपुर' ❀ के बीच स्वर्ग-लस महाशांति थी ;  
विष्णुलोक के सदृश वहाँ पर कांत कांति थी ।

( २८ )

ये † चौसर में वहाँ कई रहते घर झाली ;  
ज्ञान-मात्र के लिये दृश्य थे ताले-ताली ।  
शतरँज में ही वहाँ एक पैदल पिटते थे ;  
हाथी, घोड़े और ऊँट लढ-भिड मिटते थे ।

( २९ )

विद्या के हाँ वहाँ सभी थे भिच्छुक आते ;  
लालायित उपकार-हेतु थे जो हो जाते ।  
प्रमोदधि के बीच हूत्रकर वे बहते थे ;  
व्रत करने के लिये और भूखे रहते थे ।

( ३० )

रखते थे दो लीम वहाँ पर सदा भुजंगम ;  
गिरते थे बस घातु अग्नि में होने उत्तम ।  
थे कटुवादी काक बड़े चालाक वहाँ पर ;  
मिलता था इठयोग योग में महाकष्टकर ।

( ३१ )

कल्पवृक्ष से कांति सुरों की बढ़ती जैसे—  
सुरतरु-झवि की वृद्धि देव भी करते वैसे ।  
इसी तरह वह नगर और अति श्रेष्ठ प्रजाजन—  
वदा रहे थे झूझ परस्पर निज सुपमा-धन ।

( ३२ )

आती थी आनंद-वृष्टि सब ओर दृष्टि में ;  
कम थे ऐसे श्रेष्ठ नगर उस समय सृष्टि में ।



इसमें नृप-निधि स्वर्ग-नजत से भरे हुए थे ;  
मणि-मुक्ता-भाणिक्य वहाँ पर धरे हुए थे ।

( ३३ )

किसी बात की कमी और कुछ चाह नहीं थी ;  
दुःख, दह, दुर्मिष्ट छ, दीन की आह नहीं थी ।  
सबको प्रिय थे भूप, भूप को थे सब प्यारे ;  
ये सुख के सामान उपस्थित उनके सारे ।

( ३४ )

पर तो भी नरनाथ महा चिन्तित रहते थे ;  
और किसी से कष्ट नहीं अपना कहते थे ।  
हो करके संतान-हीन वे दीन-सदृश थे ;  
सुत-जीवन के विना पंक-गात मीन-सदृश थे ।

( ३५ )

निःफल देख उपाय निकटतम द्रष्ट जरा को—  
अपने वैभव, कीर्ति और धन-धाम-धरा को—  
उनके मन में बनी महार्चिता रहती थी ;  
शोक-सिंधु में देह और उनकी ब्रह्मती थी ।

( ३६ )

सुखी कदापि गृहस्थ हो नहीं सकता पूरा ;  
उसका जीवन पुत्र विना है सदा अधूरा ।  
सुख के सब सामान दुःखदाता होते हैं ;  
केश-बीज को और चित्त में वे चोते हैं ।

( ३७ )

महाबली संतान-हीन होकर निर्वल है ;  
रहकर भी नीरोग रोग से महा विकल है ।

यनकर भी विद्वान, दृढ़ बड़ अग्रुध महा है ;  
 नहीं किसी ने कभी असुत को सुखी फटा है ।

( ३८ )

है छ न पुत्र-उत्पत्ति गति को अपनी खोना ;  
 पर है अपरा एक शक्ति का पैदा होना ।  
 वंश वृद्धि के लिये सर्वदा जो होती है ;  
 वैरी-कुल में और अग्नि को जो जोती है ।

( ३९ )

सुख-सामग्री श्रेष्ठ सभी मिल सकती भूपर ;  
 और एक-से-एक बढ़ी हो सकती बढ़कर ।  
 पर इनमें म नहीं एक भी जाती ऐसी—  
 मोद-दायिनी पुत्र-वस्तु होती है जैसी ।

( ४० )

पुण्य और पर पुत्र बीज वज्र का बोते हैं ;  
 गहो-बढ़ी भी मरु सहायक वे होते हैं ।  
 पापना तो सर्वत्र मनुज का रहता आता ,  
 है द्वितीय पुण्यम नरक का होता आता ।

( ४१ )

इसीलिये नर-नाथ गङ्गा धरते गङ्गे थे ;  
 दत्त-संयम के क्लेश जष्ट का भी मरते थे ।  
 पान, दण्डिया, धाम, शक्र, धन, पट देते थे ;  
 शुभ आशिष भी और द्विजों में वे लेते थे ।

\* किसी-किसी का मत है कि पुत्र को उत्पन्न करना अपनी शक्ति (कार्यिक बल) का प्रयोग करना है, किन्तु यह सर्वथा भिन्न है ।

( ४२ )

मन-की-मन में रही लालसा, किंतु सर्वदा—

उन्हें प्रयत्नों से न मिली वह पुत्र-संपदा ।

गदी हुई होती न उसे क्या वे निकालते ?

होती, तो वे खोद सात पाताल ढालते ।

( ४३ )

पर वह उनको नहीं मिली धन में, सर-जल में ;

और न पाई कहीं शैल में, घर में, थल में ।

था उनसे सब जगत छान ढाला चलनी में ;

पर न मिखा सुत रख, रहे वे यों ही ली में ।

( ४४ )

वे सागर से हाथ जोड़कर ऐसा कहते ,

पृथ्वी की भी और सड़े बटो ही रहते ।

ब्रह्मा से भी और बहुत विनती करते थे ,

पर कोई भी कष्ट नहीं उनका हरते थे ।

( ४५ )

“पुत्र-रत्न दो नाथ ! आप ही रत्नाकर हैं ;

रत्न-रत्न-प्रद आप महा अक्षय सागर हैं ।”

“+वसुधा ! मेरा कष्ट क्यों नहीं तुम हरती हो ?

दे दो सुत वसु मुझे देर थाव क्यों करती हो ?”

( ४६ )

स्रष्टा ने भी नहीं दिया जन्म ध्यान विनय पर ;

तब उनसे यह कहा चित्त में महा कोपकर—

● सख्या प्रकट करने को । † सरकृत में वसुधे होता है, जिसका प्रयोग भाषा में भी कहीं-कहीं दृष्टि-गत है ।

"उन देवों के नाम व्यर्थ है बिन्दुका जपना ,  
 छोड़ दिया है धर्म जिन्होंने अपना-रूपना ।"

( ४७ )

क्या देने से उन्हें, खज-खर उर्दा कर्षा था—  
 धी रागीश्वर-दृष्टि लगी, यह दिया नहीं था ।  
 भी परंतु यह संत हृदयों में सुन गया करता ?  
 होकर कैसे प्रकट भौम-चिन्ता को करता ?

( ४८ )

हाथ गण्ड बंद भूय सभी पद, परम-परम ;  
 सुझाना को योग लक्ष्य ने भगो-भगने ।  
 पार्श्व से हो-पार दिवस जाने के पद में ;  
 और लगीत हाथों से गण्ड से जग मन में ।

( ४९ )

तब उनका था मया भाग्य भी दे देता ;  
 था जग ही वाक्य-योग से दे देता ।  
 पद दिशा में था गती, और तब दे देता—  
 भगवान् ! शरीर-शरीर कापरी कापुन मारा ।

( ५० )

क्या करता था वह जग नहीं किमी ने  
 समझा है वह जो कभी था कभी किमी ने ।  
 कोण में जो था, कभी वह था मया ही ;  
 जो था ही समझाने कभी दे देता ही ।

( ५१ )

क्या को भी कदा कदा ही मया ने ।  
 यह जानने में तु कभी समझे क्या ने ।

जीवन तक दिन-रात आपको मुनि ध्याते हैं ;  
तदपि ध्यान में नहीं आप उनके आते हैं ।

( १२ )

पत्ता - पत्ता पता आपका बतलाता है,  
किंतु स्वयं वह कभी नहीं तुमको पाता है ।  
जो पूछेगा पता, पते जो वह खोता है,  
पर पाता वह पता, लापता जो होता है ।

( १३ )

क्या-से-क्या करते न दिखाते किस माया को ?  
रखते हो तुम खड़ी किन्प तरह इस काया को ?  
स्थित है चट का वृक्ष यीज में छिपकर जैसे—  
द्विपे हुए हो आप सभी चीजों में वैसे ।

( १४ )

मेहँदी-पत्र-समान देह में प्रभु की खाली—  
समा रही है सभी कहीं, पर हे वनमाली !  
तब तक होती प्रकट नहीं, जब तक हम उस पर ।  
ज्ञान-नीर को नहीं ढालते देह चूर्ण कर ।

( १५ )

थी जब नृप के बहुत हो गई खलबल मन में ;  
थी हलचल-सी मची हुई जब मंत्रीगण में ।  
योगीश्वर सब 'दमन'†हु ख-दल-शमन आ गए,  
मानो सुरपति-समा-मध्य श्रीरमण आ गए ।

\* कोई-कोई छुपकर भां लिखते हैं । † एक महर्षि का नाम ।

( २६ )

भूम-पीत-पट-युक्त 'दमन' अति वातिवान थे ;  
 जटिल बटा के जुट शीत से लंबमान थे ।  
 पंचानलक्ष्णे प्र्याम मिया या अंग-रंग को ;  
 उनका ऐसा दग मोहता था अनेंग को ।

( २७ )

भस्मासुग गरीर ज्ञात होता था ऐसा ,  
 शर-भेष-आसुग नेत्र द्वै रति पा जैसा ।  
 कृष्ण कर्मदत्त युग नहीं था दमन-गम-पर ;  
 मुहुल-कमल से ताज रहा था अमर-निष्कर ।

( २८ )

पापु-गेम से घदन-विभूति यहाँ उद-उदकर—  
 भी प्रताप-सुचि-शक्ति-भूम सम क्षमता सुंदर ।  
 कटि के पीछे भी न कृष्ण गुगुला उचाम ;  
 धी गठरी ही धी गपन्या की पट दमन ।

( २९ )

उनको ज्ञाते देर भूषण कर करते ही गए ;  
 उमके पिता, दुःख क्षाप, से-ज्ञान हो गए ।  
 मिहामन पर उन्हें देम से फिर कैलाषा ;  
 भांसे देते क्षाप दोषपर मुझ माया ।

( ३० )

बंद, मूल, पत्र, पूछ गरीरति ने दंगलाए ;  
 तिमकी रति अनुकूल परम योगी ने क्षाप ।  
 नहीं जन्हीने दिए कां उदरेम सीति के ,  
 कीर विनाशक दण्ड क्षाप क्षाम-भक्ति के ।

( ६१ )

वे योगी थे महा, जगत-जंजाल-जीत थे ;  
 देश-भक्त, अनुरक्त ब्रह्म में, काल-जीत थे ।  
 अद्वितीय वेदज्ञ, सिद्ध थे, वे उदार थे ;  
 परमहृत्तम थे और ज्ञानिलन-कंठ-हार थे ।

( ६२ )

था उनने कर घोर तपस्या स्वबल बढ़ाया ;  
 शम-दम से चांचल्य चित्त का गीघ्र दबाया ।  
 था जीवात्मा स्वच्छ हो गया इससे उनका ;  
 प्राणयोग-रत्न बढा और फिर जिससे उनका ।

( ६३ )

समुद्र उन्होंने कहा भीम से बहुत प्रेमकर—  
 मानो बोले शंभु भक्त से वचन हेम-कर ।  
 “तेरे मंत्री, दास दीपते सभी यहाँ हैं,  
 पर तेरे युवराज बतानू गये कहीं हैं ?”

( ६४ )

कहा भीम ने स्पष्ट हेतु सुन कष्ट-नाश का—  
 “नहीं छिपा है नाथ । आपसे हाल दास का ।  
 एकर आप समर्थ जानते हैं घट-घट की ;  
 माया भी छिपती न आपसे नागर-नट की ।

( ६५ )

“हे ऋषिराज ! सुजान ! उसे कैसे घतलाऊँ ?  
 बस्तु यहाँ जो नहीं, उसे कैसे दिखलाऊँ ?  
 यद्यपि वह युवराज नहीं है ईश-सृष्टि में ;  
 है तो भी वह छिपा आपकी कृपा-दृष्टि में ।”

( ६६ )

सुनकर उषम युधि 'धनन' धति मुदित हो गए ;  
 नृप के तन पर जनुन रूप ही उदित हो गए ।  
 नदा धमन ने नमद, "भूप" हरि श्रपा करेंगे—  
 तुझे तीन सुत और पुत्र दन्वा भी होंगे ।

( ६७ )

"सती, मुंदरी, महापंडिता योगी गन्वा ;  
 उत हो मारा जगत नदुना धन्वा-धन्वा ।  
 तेरे तीनों पुत्र पौर, पटितार होगे ;  
 साजावारी, भीरू लोरे मग मुंदर होगे ।"

( ६८ )

दो धुंसा लदा । 'दत्तन' धन धिग धन में ;  
 न नृपुं धिग नृपुं धानमन लदा नृपुं में ।  
 मुदित हो मग धार, साधन धर धिग, लदा नृपुं ।  
 नाने धिग लदा धिग लदा धिग लदा नृपुं ।

( ६९ )

लदा नृपुं में लदा नृपुं धिग लदा नृपुं ।  
 लदा नृपुं धिग लदा नृपुं धिग लदा नृपुं ।  
 लदा नृपुं धिग लदा नृपुं धिग लदा नृपुं ।  
 लदा नृपुं धिग लदा नृपुं धिग लदा नृपुं ।

( ७० )

लदा नृपुं में लदा नृपुं धिग लदा नृपुं —  
 लदा नृपुं धिग लदा नृपुं धिग लदा नृपुं —  
 लदा नृपुं धिग लदा नृपुं धिग लदा नृपुं ।  
 लदा नृपुं धिग लदा नृपुं धिग लदा नृपुं ।



( ७१ )

धी शिशु-पालन-रीति उसे माता बसलाती ;  
 धी सतियों की कथा सुना मन को बहलाती ।  
 उन सबका सारांश एक पति-भक्ति दिखाती ;  
 हस्त-कला, गृह-कर्म उमे वह स्वयं सिखाती ।

( ७२ )

वह दत्ता हो गई सभी कामों में ऐसी—  
 सुनी न देखी कहीं पंडिता कन्या जैसी ।  
 चंद्र-कला की वृद्धि-मात्र की समता पाता—  
 या उसका सौंदर्य दिनोंदिन बढ़ता जाता ।

( ७३ )

करते थे आश्चर्य सभी उसका नर-नारी ;  
 ये उसमें गुण - रूप, गिरा - गौरी-मद-हारी ।  
 दमयंती जय हुई किगोरी ठीक समय में ,  
 तब त्रपादि के चिह्न लगे आने नव वय में ।

( ७४ )

आ जाने पर गंध और भी शोभा-शाला—  
 हो जाती जिस तरह कमल-कल-कलिका-माला ।  
 दमयंती भी उसी तरह वन त्रपा-धारिणी—  
 धी छवि से हो गई रमा-रति-गंध-हारिणी ।

( ७५ )

करता वृद्धि पराग पद्मिनी-छवि की जैसे—  
 वह भी उसकी कांति बढ़ा देती है वैसे ।  
 होकर उसी प्रकार सुशोभित उससे लय-लय—  
 देता था द्युति उसे नीमजा का नव यौवन ।

( ७६ )

मल राजा के दिव्य रूप का, फाँत-फाँति का,  
श्रेष्ठ गुणों का, महाशक्ति का और शान्ति का—  
फईं गुरों ने धार-धार धर धर्यन सुनकर—  
थी होने लग गई भीमता ० मुग्धा उन पर ।

( ७७ )

प्रेमोद्दिष्टि के बाँध निरंतर वह बहती थी ।  
विग्रह-वेग की मटा व्यथा को भी मटती थी ।  
घपने मन में भव्य भावनाएँ भरती थी ।  
गुप्त रीति में सीः दृष्ट-निगमन करती थी ।

( ७८ )

बन्गला-भरी कभी-कभी वह भीम-गुमारी—  
हो जाती थी नृत-देह की सुध-सुध मारी ।  
गरिमा इत्या भेद किंतु थी नहीं जामरी ;  
भोजी-भाली उसे बसोंनि ये मला मानती ।

( ७९ )

शाम-मालाल से मिला, उरगत लक्ष्य-भूमि पर —  
पौन-रूप, बाल-सूदं-झातव को पाकर—  
प्रेमीनुर तय भीम पादविन हो जाता है ।  
विश्वरामों का वासु उसे जय छद्मगमा है ।

( ८० )

हमसंगी की पट्टी एसा होना एता थी ;  
एकितों की भा भाव बहों उमको भागी थी ।  
बादकी-कति-कतल देह बय उरकी-हीनत—  
एतनी ही दिल-बाद सेन पाक को उजदख ।

( ८१ )

जो क्षुब्धता पहचान अलौकिक अपने बल की—  
 वन विचित्र†, कर सृष्टि भीमजा-लोचन जल की।  
 हो करके जो‡ प्रकट किसी के मन के अंदर—  
 करता था उत्पन्न स्नेह का एक समंदर।

( ८२ )

दोनो ओर समान प्रेम बढ़ता था पल-पल ;  
 थे भैमी की तरह हो रहे नल भी विह्वल ।  
 उपवन में रह काम-ताप को वे हरते थे—  
 कई तरह को ओर कल्पनाएँ करते थे ।

( ८३ )

जिसको किया नल ने वहाँ निल वृत्त था—  
 उस श्रेष्ठ 'मानसहस' को सुनिष्ट कथा ।  
 जिसमें लिखी खग की अलौकिक युक्ति है —  
 फिर भीमजा-मुख-पद्म की मृदु उक्ति है ।

० वह प्रेम-पावक । † अग्नि होकर भी जल ( आँसुओं ) की सृष्टि करे, यही विचित्रता है । ‡ लोचन-जल की सृष्टि अर्थात् नल और दमपती दोनो ही विरह के आँसू बहाते थे ।



( ५ )

रोती हुई देख माता को कृष्ण वेप में उसे निहार—  
कोलाहल कर-कर पशु-पक्षी रोते थे बस हाँड़ें मार।  
ये नदीश, नद, नदी, वायु भी महा मद करके संताप ;  
द्वव शोक सागर में स्थित थे तरु-जलादि भी हो चुपचाप।

( ६ )

निशानाथ को, प्राणनाथ को, नभ में आता हुआ निहार—  
निशा नवेली हर्षित होकर करती थी मोलह शृंगार।  
पूज बिछाती थी पति-पथ में, तारा-युक्त न था आकाश ;  
अथवा मोती वार रही थी आकर वह स्वामी के पास।

( ७ )

पूर्ण चंद्र की चारु चम्पिका दगी छिट्छने चारो ओर ;  
किंतु नहीं मिलने पाया था शंभकार उपवन में ओर।  
ठीक ज्ञात होता था ऐसा अरुण वर्ण हिमन्त उस काक—  
मानो वह प्राची नारी का था सुहाग का टीका काक।

( ८ )

अथवा व्योम - क्षीर - सागर में, था जो तारक - फेनादृष्ट।  
पद्मनाभ छ-नामी से मानो पद्म हो गया था उत्पन्न।  
या निज से सुंदर सुखदायक मन-भोहन नल-वदन विलोक—  
होकर लाल क्रोध के मारे चंद्र फल रहा था अति शोक।

( ९ )

यही छिपाने वहाँ ईदु ने ताना था तित वरु अनूप—  
गुप्त रहे यह भेद भूमि पर, मुझसे सुंदरतर नल-रूप।  
अथवा उनको छजित करने, बतलाने निज विभव महान—  
स्वच्छ सुधा-धारा को भू पर वहा रहा था सुधा-निधान।

\*विष्णु भगवान् ।

( १० )

ऐसे सुखद समय में जाकर निज उपवन में नल नर-नाथ—  
धूम रहे थे मन बहलाने, किंतु नहीं था मन वह साथ ।  
जो करती आकार्षित पल में दमयंती - मय - नल का ध्यान ;  
ऐसी वस्तु न वहाँ कहीं थी, किंतु सभी थीं छवि-गुण-खान ।

( ११ )

मृगपति-गति का गर्व - गंजनी थी अति सुंदर उनकी खाल ;  
वृषभ - कंध - मद - मर्दन - फारक कंध-युग्म था रुचिर विशाल ।  
शिवा-सिंह को, शिव-नंदी को लज्जित करने को ही आप—  
मृदुल चरण-कमलों को, चलकर वहाँ, दे रहे थे संताप ।

( १२ )

अथवा विधि से यह कहने को गए बाग में थे नल भूप—  
“हे चतुरानन ! तूने मुझको इन जीवों में किया अनूप ।  
पर ये तो हैं सभी सुखी निज प्राण-प्रिया को लेकर साथ ;  
मैंने ही क्या किया, मुझे जो एकाकी रखता है नाथ !

( १३ )

“पंख-युग्म से युक्त क्यों नहीं किया मुझे स्वच्छंद विहंग ;  
जिससे सग प्रिया के रङ्गकर इस वियोग का करता भंग ।  
अथवा मुझको किया क्यों नहीं अंगराग था गंध अपंगल ;  
छू जेता मैं जिसमे उसका कभी-कभी तो कोमल अंग ।

( १४ )

“सुर-नर-किन्नर-गंधर्वों में है उसका - सा नहीं स्वरूप ;  
है, न हुआ, क्या हो सकता है ऐसा मोहन कहीं स्वरूप ।  
मैं तो उसके हाथ विक लुका, और यही मुझको विश्वास ;  
प्राण-प्रिया वह मेरी ही है, और उसी का हूँ मैं दास ।

( १५ )

"बासु चंद्रिका से करता है जैसे वर चकोर अनुराग ;  
निज मंजुक मस्तक-मण्डि को है खूब चाहता जैसे नाग ।  
इससे भी मैं अधिक चाहता दमयंती को जो गुण-गोह,  
है वह मेरा प्राण, अत अव सृतप्राय ही है यह देह ।

( १६ )

"सूषम शरीर चही है, मैं तो हे निर्दय ! हूँ स्थूल शरीर,  
दीन मीन हूँ, है वह मेरा जीवन - दाता निर्मल नीर ।  
मेरे मन-भानस की उसको मंजु मराली ही तू जान,  
विधि ! बतला उसकी दर्शन-विधि शरणागत अब मुझको मान !"

( १७ )

पहुँच गए यों कहते-कहते वे फिर एक तड़ाग - समीप ;  
जो था मानो उपवन-गृह का शोभा-वर्धक सुंदर दीप ।  
तट तो उसके वडिभांग थे, नीर तैल था अमल महान ;  
फनक-कलश-सह सलिल सघ्न थी शिखा, ध्वजा थी धूम-समान ।

( १८ )

ऐसे इस वीराशय में थीं रग-रंग की मीन अदीन ;  
जाति-जाति के पशु-पक्षी भी रम्य तटों पर थे आसीन ।  
इनमें से कुछ बोल रहे थे, करते थे कुछ कलित कलोल,  
खोल हो रहे थे कुछ सर में दर्शक मन लेने को मोल ।

( १९ )

रक्त, नील, सित, कमल कमल में लगते थे ऐसे अभिराम—  
मानो विधि - हरि - हर ही स्थित थे सर में होकर पद्म बलाम ।  
मधुकर मंजु मधुर गुंजित थे जे वनसे भकरंद अनूप ;  
मानो उनकी स्तुति करते थे भक्तजनों के वे अतुरूप ।

( २० )

सारे सर - तीरस्थ व्योमचर देव - वृन्द थे मानो स्पष्ट ;  
जो करते थे उनसे विनती नल की चिंता करने नष्ट ।  
जैसे-जैसे वे उस सर के अति समीप होते थे प्राप्त—  
वैसे-वैसे वे अपने को सौख्य - शांति से पाते व्याप्त ।

( २१ )

हरी दूय पर यों लगते थे पड़े हुए जल-कण सर्वत्र—  
हरित - मंजु - मल्लमल पर मानो थे मंजुल मोती एकत्र ।  
कहीं-कहीं पर थे गुलाव के फूल रहे अति सुंदर फूल ;  
जिनका झूला बना-बनाकर अलि-कुल खूब रहा था झूला ।

( २२ )

कहीं सघन-वन-तटों पर थे सुजन-सुमन-सम सुमन पवित्र ;  
हरित मंजु मणि-गण पर मानो हीरावलि थी जटित विचित्र ।  
जहाँ सरोवर-तट पर कुंजें यनी हुई थीं अति अनमोल ;  
और जहाँ पर कई तरह के करते थे वन-निहग फलोत्त ।

( २३ )

वहाँ पहुँचकर नल राजा ने राजहंस देखे दश-घार ;  
उड़े त्रयोदश उनमें से, पर एक रह गया उन्हें निहार ।  
ये न हस थे, पर भैमी के थे अति उज्ज्वल कीर्ति-मराल ;  
जो जाते थे यश फैलाने सारे लोकों में उस काल ।

( २४ )

एक रह गया भूमि-भुवन पर, सुयश हो गया यो विस्तीर्ण ;  
बचे हुएों को और कर दिया शेष मरालो ने व्याकीर्ण \* ।  
फैल गई जब दमयंती के सारे श्रेष्ठ गुणों की बात ;  
करने लगे इसी की चर्चा तब आपस में सब दिन-रात ।

\* भर दिया, व्याप्त कर दिया ।



( २४ )

देख इस को लगे सोचने हो करके नल शोक-विमुक्त,  
है यह कैसा सुंदर पत्नी चारु चंचु-चरणों से युक्त।  
करके मन में घृणा, गिरा में महासुखरता-श्रवणुण मान—  
संभव है, यह निज वियोग से उसे दे रहा दुःख छ महान।

( २६ )

मुझे ज्ञात होता है ऐसा हृदयांकित कर इसका चित्र,  
दत्तचित्त हां विधि ने की है इसकी सृष्टि महान विचित्र।  
मायिका बना-बनाकर पहले साफ किया है अपना हाथ;  
फिर उसको मँजा है कोमल लाल कमल-रचना के साथ।

( २७ )

इसके पीछे किया गया है खेचर-चरण-चंचु-निर्माण,  
जो ऐसा होता न, नहीं ये हो सकते थे यो छविमान।  
मैं इसको अवश्य पकड़ूँगा, अद्वितीय इसका लावण्य;  
ऐसी रचना करनेवाला दूध विधाता भी है धन्य।

( २८ )

अल्पकाल के पीछे नल के हाथ आ गया जब वह इस।  
तब उसने यह कहा देखकर अति समीप अपना विध्वंस—  
“मुझ निर्दोषी नभ-चर का वध टचित नहीं तुमको नर-नाथ।  
जीव-दान जो दोगे, तो मैं तुच्छ तुम्हारा दूँगा साथ।

( २९ )

“मुझे मारने से क्या होगा, हूँ मैं क्योंकि अभक्ष्य पदार्थ;  
जो मारा भी, तो इस तनु से पूरा हो न आपका स्वार्थ।

\* हिंदी में दुःख और दुख दोनों का ही प्रयोग होता है। † राजहस्तास्तुते  
चंचुचरणौर्दिवै सिताः। शत्यमरः। राजहमों के पैर और चोंच लाल  
और देह-वर्ण रवेत होता है।

राजन् ! मैं छोटा-सा पत्नी, बड़ा आपका है परिवार ;  
बुधा शांत होगी न किसी की व्यर्थ जानिपु यह व्यापार ।

( ३० )

“नगर-नारि-नर-नाशक हरि भी मैं हूँ नहीं रूप-गुण-धाम !  
मेरे वध से नाम न होगा, किंतु आप होंगे वधनाम ।  
यही नहीं, कुछ और मिलेगा आज आपको इसके साथ ;  
महापाप के भागी भी तो होना तुम्हें पड़ेगा नाथ ।

( ३१ )

“माता-पिता नहीं हैं मेरे, है दो बच्चे, रमणी एक ;  
जिसके तनु में हाथ ! उठ रहे कई दिनों से रोग अनेक ।  
करता हूँ मैं ही शिशु-पालन और रोगिणी का भी काम ;  
मैं ही जानूँ मेरे जी पर क्या-क्या धीत रही है राम !

( ३२ )

“सुख के स्वप्न देखते रहते, छूता तुम्हें न दुःख-समीर ;  
जिसके पाँव न फटी बिवाई, क्या जाने वह पर की पीर ।  
कमल-कंद-श्रीपथ लेने को मैं आया हूँ यहाँ नृपाल !  
शिशुओं के हित और मधुरतम कोमल शैवालों का जाल ।

( ३३ )

“जो तुम मुझे मार डालोगे, तो होंगे वे भी मृत आज ;  
ऐसी हत्या-हेतु कहेगा क्या-क्या तुमको नहीं समान !  
पाँच दिवस का भूखा-प्यासा और कुटुंब-शोक से युक्त—  
ऐसे मुझको सता रहे हो, क्यों न आप करते हो मुक्त !

( ३४ )

“मुझे छोड़ दो, तुमको देगी हंसी शिशुओं-सहित असीस ;  
जिससे आप शीघ्र ही होंगे पूर्ण-मनोरथ हे अवनीश !

वाह-वाह खो, क्यों खेतें हो नृतक-दुख्य जीवों की आह ;  
 बोहे को जो झाक बना दे, लो, हे कोविद ! सीधी राह ।

( ३५ )

“क्या गृहस्थ-जीवन को समझो धविवाहित हो करके आप ;  
 और नारि - शिशु - दुख पुरुष को देता है कैसा संताप ।  
 सदा अहिंसा को बतलाते निगनागम भी उत्तम धर्म ;  
 उमे क्यों न पालन करते हो, क्यों न छोड़ते आप कुर्म ?”

( ३६ )

‘ एक दिवस मुझको सरना है, इसका मुझे न डर भी शोक,  
 किंतु दशा उनकी क्या हांगी, तुम्हें जहेगा क्या यह लोक !  
 हैं ये दो चिंताएँ मन में, धीरे नहीं कुछ मुझे विचार ;  
 चार छ भेज दिखला लो भेरा है विदर्भ में मय परिवार !”

( ३७ )

पत्नी-दुख से मनुज-वचन सुन और विदर्भ-देश का नाम ;  
 नल ने कहा— ‘ यश आने का हेतु मुझे बतला गुण-वान !”  
 वह बोला— ‘ भिन्नी-उपवन में रहता था पहले यह दास ;  
 मुझे वहाँ कुछ भी न कमी थी, थी सुख-सामग्री भी पास ।

( ३८ )

“किंतु एक दिन मदन-मोहिनी दमयंती को सुगति निहार—  
 मैं महान लज्जित हो करके शीघ्र हां गया चिंताऽऽगार ।  
 मेरे साथी और ईस भी चलना-फिरना मय कुछ मूल ;  
 छपने गति के मद को खोकर आज आ गए हैं इस कूल ।”

( ३९ )

सुन ऐसा वल-वर्णन मोहित और हो गए नल भूपाल ;  
 बहुत कठिन है कहना उनके दमयंतीमय मन का हाल ।

लगे आप मन-ही-मन कहने—“कौन मला ऐसा नर-नाथ—  
बोप-हीन वह महा धनूठा रत्न लगेगा जिसके हाथ ?

( ४० )

“निर्मित किया गया है वर भी रूपवान उसके अनुरूप ;  
वह गंधर्व, देव है किन्नर, या कोई बहभागी भूप ।  
मदा युग्म ही सबके करता नहीं विधाता रचता एक ;  
एक-एक है एक वही, जो कभी एक है, कभी अनेक ।

( ४१ )

“वह उसमें, इसमें, मुझमें भी है जय मयमें एक पदार्थ,  
तो फिर उसके लिये टसी का क्यों न मिद्ध हो उससे स्वार्थ ।  
यही उचित है मुझे इस समय राजहंस को करना दूत ;  
क्योंकि विद्वग करते आए हैं पट्टता-युक्त श्रेष्ठ करतूत ।

( ४२ )

“स्वयं त्रिलोकीनाथ विष्णु भी खग को ही रखते हैं पास ;  
विवि मराल पर पशुपति शिव तो पशु पर भी करते विश्वास ।  
इससे सिद्ध हो गया है यह, नर, पशु, खग सब ही गुणवान ;  
रूप-भेद है केवल, सबमें वही एक है एक समान ।”

( ४३ )

यों विचार बोले—“तूने यह कहा मुझे था ‘हे नरनाथ !  
जीव-दान जो दोगे, तो मैं तुच्छ तुम्हारा दूँगा साथ ।’  
इसी वचन को पूरा कर तू, है भैमी ही मेरा प्राण ।  
प्राण-श्राण तेरा-मेरा भी-इसी कार्य पर निर्भर जान ।”

( ४४ )

“क्यों इसकी चिंता करते हो, है जय इसका मुझ पर भार ?  
यावज्जीवन क्या भूलूँगा किया आपने जो उपकार ।

छोटे मुख से बड़ी बात है खग कहता यों कहिए नाथ ।  
पर मैं कभी दिखा दूँगा इस कोमल कर में मोहन हाथ ।

( ४५ )

“तजो मुझे अथ, पंख करेंगे कठिन करों को और कठोर ;  
ये न प्रथम ही भैमी-कर-सम और आप फिर करते घोर † ।  
कहाँ आपके कर कठोर ये कहाँ कमल-भद्र-हर वे हाथ ॥  
हैंसी न जानो मानो स्वामिन् । इनका-उनका कभी न साथ ।

( ४६ )

“होकर के विधु-वदन थाप यों गर्व कर रहे हैं क्यों आज ।  
दमयंती के मुख-समान भी नहीं हो सके यह द्विजराज ।  
क्योंकि सदा खिलते रहते हैं छुमुद वदन का देख प्रकार ;  
करते हैं वे भीम-विपिन में कभी न चद्रोदय की आस ।

( ४७ )

“छिप-छिप करके निजाराज में फिरती है वह चारो ओर ;  
क्योंकि उसे व्याकुल करते हैं समुल आकर सभी चकोर ।  
श्री ने हरि-समीप ही रहना आज कर लिया है स्वीकार ;  
क्योंकि भीम-तनयानन छुति से वंद हो गय पद्मागार ।

( ४८ )

“देख मनोहर केशवलि को, है जो अलि-कुल से भी श्याम ;  
और कपोलों पर जो देती जटक-जटककर कांति जलाम ।  
आते हैं अहि भूषण शिव को छोड़-छोड़कर नाग महान ;  
काली नागिन उसे मानकर और मियाँ से बढ़कर जान ।

---

ॐ ईस नल से हैंसी करता है । † आर भी कठिन अर्थात् आपके हाथ पहले ही से दमयंती के कर-करलों के समान कोमल नहीं है, और आप अपने मेरे पंखों को पकड़कर उन्हें और भी कठोर बना रहे हो । ‡ अपनी सर्पिणी ।

( ४६ )

“किंतु सुंदरी दमयंती के शोभामृत का करके पान—  
उनको गिरिजा का भ्रम होता इससे वे करते प्रस्थान ।  
जाते हुए, यही कहते वे—‘तज करके तप को भूतेश—  
उमा-कपोलों पर लख हमको क्रोधित होंगे उग्र महेश ।’

( ४७ )

“उसकी विद्या-बुद्धि देखकर वाणी करती शोक महान ,  
क्योंकि विधाता बुला रहे हैं उसको अपनी तनया मान ।  
किंतु जामकर है ब्रह्मा ने किया गिरा पर अस्थाचार ;  
हे उसने इस पदवी को भी आज कर दिया अस्वीकार ।

( ४८ )

“अधिक नया कहूँ, है वह मानो परमा शोभा लक्षणा-रूप ;  
बालायित क्यों हुए आपको कहते, पुरुष नितेंद्रिष भूप ।  
मत अधीर हो, धीर-वीर बन होते हो क्यों विकल नितान्त ?  
सत्य जानिए हो जावेगा ताप आपका अब यह शांत ॥”

( ४९ )

सुनकर प्यारी बातें नज ने करके प्राप्त महा आनंद—  
छोड़ दिया फिर उस पत्नी को था जो सारे सुख का कंद ।  
पूर्णतया जब जान गए वे नष्ट हो गया है संताप—  
उनके शुद्ध हृदय से निकली तब यह वाणी अपने आप ।

( ५० )

“हे मञ्जुल ! मुक्ताफल-भोक्ता ! हे विहगेश्वर ! बुद्धि-निधान !  
चिंता-दुःख-चिंता-निर्माता ! हे सुखदाता ! मेरे प्राण -  
श्रेणी बनाना ऐसा जिससे उश्रय हो सकूँ कभी न मित्र !  
खिचा रहेगा मानस-पट पर यह सुहावना तेरा चित्र ।

( १४ )

“पर प्रियतम ! ऐसा मत करना, देखा करूँ सदा ही घाट—  
तुझे हूँदता फिरूँ सरों में घाट-घाट पर पाऊँ नाट ॥  
ऐसा भी मत करना जिससे होवे सारा मटियासेट ;  
तू भी नहीं दिखाई देवे, मैं रह जाऊँ पकड़े पेट ।”

( १५ )

कल्याण-भरे वचन सुन नल के कहा हस ने—“हे सुकुमार !  
दमयती का या प्रभु का घर, मेरे तो दो ही घर धार।  
नहीं तीसरा मेरे कोई, फिर क्यों चिंता करो नृपाल।  
ध्याया मैं शुभ समाचार ले”, यों कह हंस उठा तत्काज।

( १६ )

उसको गया देख फिर थाए निजागार में भूप दलात,  
पर न चैन था, उन्हें वही बस लगन लगी रटती दिन-रात।  
इधर † हाक था यही, उधर वह हंस कई दिन के परचाव—  
पहुँचा दमयंती - उपवन में पूरी करने अपनी घात।

( १७ )

वहाँ ‡ देखकर पहले से भी अधिक परम शोभा-विस्तार—  
करने लगा प्रकट मन-ही-मन वह सगर्व निज श्रेष्ठ विचार—  
“जन्मभूमि ! मैं तुझे देखकर क्यों न करूँ अब गर्व महान ?  
वे हैं मूढ़, नहीं रखते हैं, जो तेरा कुछ भी अभिमान।

( १८ )

“तेरे सदृश नहीं है कोई, सभी सृष्टि में वस्तु विचित्र।  
हैं तू स्वर्गलोक से बढ़कर विष्णुलोक से और पवित्र।

\* नहीं। † नल के यहाँ। ‡ उपर, दमयंती का श्रोत। † कुडिनपुर में  
जहाँ वह जन्मा था।

जो मानव वैरी से लड़ते करके सिद्ध एकता-मंत्र—  
हैं वे देवों से भी उत्तम, रखते हैं जो तुम्हें स्वतंत्र ।

( ५६ )

“धन्य-धन्य वे जो करते हैं जीवन देकर तेरा चेम ;  
तेरे लिये न रखते हैं जो लोग दिखाऊ मन में प्रेम ।  
ध्येय बना रहता है जिनका तेरे शोक-दुःख का नाश ;  
करते हैं वे ही जग-शासन, हैं जो तेरे सचे दास ।

( ६० )

“माता ! तेरी सेवा में है यह मेरा जीवन बलिदान ;  
मेरी नस-नस, मेरी रग-रग करता हूँ तुम्हें पर कुर्बान ।  
तेरे पद-रक्षक होने को मेरा चर्म सदा तैयार ;  
तेरे अंजन-हित ये शॉखें होती हैं तुम्हें पर बलिहार ।

( ६१ )

“यही एक इच्छा है, जायें तेरी सेवा में ये प्राण ;  
तुम्हें धनश्वर सुख देकर ये करें यहाँ से फिर प्रस्थान ।  
तुम्हसे कभी उद्दण्ड होने में हो सकता मैं नही नमर्थ ;  
क्या-क्या नहीं किया तूने तो किया सभी कुछ मेरे धर्म ।

( ६२ )

“प्यारी माता ! विदु-विदु मे भरा हुआ है तेरा धन ;  
नस-नस में कितना ही जानें धरा हुआ है तेरा अंश ।  
तेरा ही प्रतिविम्ब नाचता घोड़ी-घोड़ी में चुपचाप ;  
लगी हुई है बाल-शाल पर बस तेरी ही मोहर-छाप ।

( ६३ )

“दो मुक्तों के वरदान यही—‘तू हो जा पूर्ण मनोरथ धाज ;  
और सुंदरी दमयंती के यज्ञ स्वयंवर के भी साज ।’





रहे बात मेरी भी जग में और आपका भी हो नाम—  
पुरख भूमि के राजहंस ने कैसा कठिन किया था काम।”

( ६४ )

यों विचार करते-करते तब हुआ उसे अस्थोदय भान ,  
छेडा जव सुखदायक स्वर से व्योमचरों ने अपना गान ।  
अंधकार-अध-भार-कार को मार, पछाक पकड़कर केश—  
जय-स्यंदन में स्थित हो फरके बढ़ी छटा से उगे दिनेश ।

( ६५ )

यह सहस्रक-कर-कर-वर का नवल-निकर था तेज-निधान ;  
अथवा थी यह बाल-बह्नि की गोलाकार मूर्ति छवि-खान ।  
या यह सदन-दहनकारक था सदन-दहन का नेत्र प्रवान,  
अथवा यह तिमिराऽसुर-शिर-हर विष्णु-चक्र था अति छुतिमान ।

( ६६ )

पीत-रक्त-मणि सदृश बनाया पूर्वं दिशा ने अपना वेप ;  
थी मानो वह खूब सब गई आता हुआ निहार निलेश ।  
शंख, मृदंग, दुंदुभी-रव से गूँज उठा फिर राजहार ;  
हुआ पयव, फरार बालों से शब्दायित अति भीमाहार ।

( ६७ )

देख भानु को बुध-विद्या-सम कमल-कान्ति फिर बढ़ी तुरंत,  
चौर - दुष्ट - तंपत्ति - सदृश ही हुआ कुमुद - शोभा का अंत ।  
वैसे हा मकरंद - पान से शृंग - वृंद के फूले अंग,  
यौवन में जैसे भरता है अंग - अंग में काम अन्नंग ।

( ६८ )

शीतल, संद, सुगंध, सुपावन वायु लगी वहमे स्वच्छद  
चकवे और चकवियों का भी कटने लगा चिरह का फद

सभी उलूक देखकर रवि को खोते थे अपना आनंद ;  
नर, नारी, पशु, विहग और तरु सभी हो गए सुख के कंद ।

( ६६ )

हा ! भैमी का यश सुकृमे भी अधिक हो गया है इस काल—  
ऐसा सोच कोप के मारे सूर्य हो रहे थे कुञ्ज जाल ।  
हंसोदय छ के पीछे देखा वहाँ हंस ने तिमिर महान ;  
क्योंकि सूर्य उपवन के अंदर थे लज्जा से अंतर्धान ।

( ७० )

ऐसे सुखद समय में सुंदर सखियों को लेकर के संग—  
धाती हुई देख भैमी को महा प्रफुल्लित हुआ विहंग ।  
अंग - अंग में शान्ति छा गई, और आ गई महा ठमग ;  
अंग † देखकर भैमी के जो परिवर्तित थे किए अनंग ।

( ७१ )

अल्पकाल पीछे खेचर के मन में पैदा हुआ विवेक ;  
'है यह या वह ठीक' लगा यो करने वह सुविचार अनेक ।  
गया अंत में उस सर-तट पर जहाँ जा रही थी छवि-भोह ;  
मानो वह शोभा जाती थी धारण करके ललना-देह ।

( ७२ )

जाकर वहाँ ‡ शीघ्र दमयंती करने लगी नित्य का कर्म ;  
और सभी सखियाँ पटुता से लगीं पालने निज-निज धर्म ।  
हो निवृत्त जब सब-की-सब वे सर से जाने लगीं निदान—  
राजहंस तब धागे बढ़कर करने लगा धमका जल-पान ।

---

\* सूर्योदय । † शरीर के अवयव । ‡ भोग के मगल के सम्मुख जो उपवन था ।

रहे बात मेरी भी जग में और आपका भी हो नाम—  
पुरण भूमि के राजहंस ने कैसा कठिन किया था काम।”

( ६४ )

यों विचार करते-करते तब हुआ उसे अस्थोदय भान ;  
छेड़ा जब सुखदायक स्वर से व्योमधरों ने अपना गान ।  
अंधकार-अव-मार-कार को मार, पछाठ पकड़कर केश—  
जय-स्यंदन में स्थित हो करके बड़ी छटा से उगे दिनेश ।

( ६५ )

यह सहस्रकर-कर-कर-वर का नवल-निकर था तेल-निधान ;  
अथवा थी यह बाल-बद्धि की गोलाकार मूर्ति छवि-खान ।  
या यह मदन-दहनकारक था मदन-दहन का नेत्र प्रधान ;  
अथवा यह तिमिराऽसुर-शिर-हर विष्णु-चक्र था अति द्युतिमान ।

( ६६ )

पीत-रक्त-नण्डि सदृश बनाया पूर्व दिशा ने अपना वेप ;  
यी मानो वह खूब सज गई आता हुआ निहार निजेश ।  
शंख, मृदंग, दुंदुभी-नव ने गूँज उठा फिर राजहार ;  
हुआ पणव, ऊर्ध्वर यानों से शब्दायित अति भीमागार ।

( ६७ )

देख भानु को बुध-विद्या-सम कमल-क्रांति फिर बढी सुरंत ;  
चौर - दुष्ट - संपत्ति - सदृश ही हुआ कुमुद - शोभा का अंत ।  
वैसे हा मकरंद - पान से मृग - बृंद के फूले अंग ;  
यौवन में जैसे भरता है अंग - अंग में काम अनंग ।

( ६८ )

ग्रीतल, मंद, सुगंध, सुपावन वायु लगी वहने त्वच्छंद ;  
चकवे और चकवियों का भी कटने लगा धिरह का फंद ।

सभी डलूक देखकर रवि को खोते थे अपना आनंद ;  
नर, नारी, पशु, विहग और तरु सभी हो गए सुख के कंद ।

( ६६ )

हा ! भैमी का यश सुकसे भी अधिक हो गया है इस काल—  
ऐसा सोच कोप के मारे सूर्य हो रहे थे कुछ लाल ।  
हंसोदय छ के पीछे देखा वहाँ हंस ने तिमिर महान ;  
क्योंकि सूर्य उपवन के अंदर थे लज्जा से अंतर्धान ।

( ७० )

ऐसे सुखद समय में सुंदर लखियों को लेकर के संग—  
आती हुई देख भैमी को महा प्रफुल्लित हुआ विहंग ।  
अंग - अंग में शक्ति छा गई, और था गई महा उमंग,  
अंग + देखकर भैमी के जो परिवर्तित थे द्विप अरंग ।

( ७१ )

अल्पकाल पीछे खेचर के मन में पैदा हुआ विवेक :  
'हैं यह या वह ठीक' लगा यों करने वह सुविचार अनेक ।  
गया अंत में उस सर-तट पर जहाँ जा रही थी छवि-गेह ;  
मानो वह शोभा जाती थी धारण करके ललना-देह ।

( ७२ )

जाकर वहाँ † नीच दमयंती करने लगी नित्य का कर्म ;  
और सभी सखियाँ पटुता ने लगीं पालने निज-निज धर्म ।  
हो निवृत्त जब सय-जी-सय वे मर से जाने लगीं निदान—  
राजहंस तब आगे बढ़कर करने लगा शमन जन-पान ।

\* सूर्योदय । † शरीर के अवयव । ‡ मान के महत्त्व के अनुसंधान में  
उपवन था ।

( ७३ )

उसे देखकर बोली मैत्री—“हे सखियो ! हो शीघ्र सचेष्ट ;  
 दौड़ो इस पत्नी के पीछे, इसे पकड़ना आज ममेष्ट ॥”  
 ऐसी आज्ञा सुनकर वे सब खलीं पकड़ने उसके साथ ;  
 किंतु शीघ्र वे सभी थक गईं, आया वह न किसी के हाथ ।

( ७४ )

महाश्रांत, सुंदर सखियों को हंस ले गया दूर महान,  
 और जहाँ दमयंती थी भर वहाँ आ गया एक उदान ।  
 उसे पकड़ना चाहा उसने देख विहग को अपने पास ;  
 किंतु एक छोटे तरु पर वह जा बैठा कर अल्प प्रयास ।

( ७५ )

खग ने कहा—“विफल है फिरना आज आपका मेरे साथ,  
 मुझे पकड़ने से क्या होगा, ग्रहण कीजिए नल का हाथ ।  
 धरणी-मंडल पर वर वे ही एक आपके हैं अनुकूल ;  
 और किसी को वरण करोगी, तो होगी यह भारी भूल ।

( ७६ )

“सोने में सुगंध हो जावे, है यह मणि - काचन - संयोग ;  
 गिरा - गिरागुरु † यही कहेंगे—‘दमयंती नल राजा - जोग ।’  
 श्रीरूपा हैं आप, उन्हें सब कहते हैं नारायण - रूप ;  
 होगा युग श्री-श्रीपति का ही और भूप गिर जावें कूप ।

( ७७ )

“सदा भ्रमण करता रहता हूँ देश - देश में, दूर-सुदूर ;  
 सब धरणी के राजाओं को देखा है मैंने भरपूर ।  
 पर न मिला है वैसा कोई, क्या मैं उनका कहूँ बखान ?  
 नल की पालँग के न वरावर कहूँ उन्हें मैं सह अभिमान ।

‡ मेरा श्वशुर, अर्थात् जिसे मैं चाहती हूँ । † ( गिरा ) मरस्वती ( गुरु )

= ब्रह्मा ।

( ७८ )

“कभी इष्टि-गत हो न सकेंगे ऐसे नृप चत्रिय - कुल - दीप ;  
हैं सारे सेवक-से लगते उनके सम्मुख और महीप ।  
सवा आप दोनों की जोड़ी ऐसी भली भला हो ज्ञात ;  
चारु चंद्र के साथ चंद्रिका रहती है जैसे दिन-रात ।

( ७९ )

“सभी जगत की सुंदरता का खींच-खींचकर सारा सार—  
चतुरानन ने रचा आपको ठठा महीनों तक भ्रम-भार ।  
ले रूपांग त्रिलोकी का फिर कर्म-क्यस्त रहकर दिन-रात—  
सिरजा एक मनोहर नृप को, हैं जो नल भू पर विषयात ।

( ८० )

“नल सानंद सदा रहते थे, हँसते हुए अतीव प्रसन्न ;  
किंतु आपकी चिंता से अब बहुत हो गए हैं अवसन्न ।  
सुध-द्रव्य सारी भूल गए वे होकर प्रिया-विरह-दुख धाम ;  
दमयंती इस नामधेय की जपते हैं माला अविराम ।

( ८१ )

“नेत्र और कानों में उनके युद्ध हो रहा है घमसान ;  
ये छ कहते कुछ और बात ही, वे † करते कुछ और बखान ।  
दो तो यह कहते—‘भैमी के गुण-अर्थान मे हैं इन तुष्ट’ ;  
और शेष दो यही बोलते—‘दर्शन बिना न है हम पुष्ट ।’

( ८२ )

“इन चारों के महायुद्ध में हृदय हो रहा है बेहाल ;  
वह सबको समझाता रहता कह-कहकर उनसे निज हाल ।  
‘तुम सुनकर के वृष हो गए, होगे तुम देखे सुख-युक्त ;  
में कैसे संतुष्ट बनूँगा, महाकष्ट से होकर मुक्त ।’

( ८३ )

“मिलकर निज जातीय युग से नयनो ! तुम पाश्चोणे हर्ष ;  
 बातें भी कर मूक परस्पर मन में भी भर लोगे हर्ष !  
 जब मेरा जातीय न होगा मुझसे मिलने को तैयार—  
 तब फिर हाय ! हूँदना होगा शीघ्र मृत्यु का मुझको द्वार !”

( ८४ )

“इस प्रकार की बाधाओं से चिंतित हैं नल प्राज्ञ महान ;  
 न्यौढ़ावर कर दिए धाप पर उनने निज तन-मन, धन-प्राण ।  
 इमका क्या उत्तर हूँ उनको, कहे धाप अब तोच, विचार ;  
 स्वीकृत है कि नहीं बनना अब उनके कांत कठ का हार ?”

( ८५ )

प्यारी हंस-गिरा को सुन जब हंसगामिनी हुई अधीर,  
 रोम-रोम तब लगा बताने होकर खड़ा विरह की पीर ।  
 मदन-दहन के पीछे मानो करती थी जब प्रिया छ विद्याप,  
 तब गिरिजा को लगा मताने गिरिजापति-वियोग † का ताप ।

( ८६ )

पुष्प - वाटिका में था करने श्रोरघुवर - दर्शन सुखकार—  
 कनक-क्रांति - धर जनक - कुमारी तदफ रही थी वारंवार ।  
 अयवा पूर्ण चंद्र - सम सुंदर कृष्णचंद्र का तनकर संग—  
 बाधा - हर राधा करती थी वन में रहकर आधा अंग ।

( ८७ )

इस प्रकार विरहाकुल होकर बोली वह शोभा की खान ;  
 मानो सुधा - सिता - मधु - धारा वन में बहने लगी महान ।  
 “जो कुछ तूने कहा, उसे वा मैंने लिया प्रथम ही जान ;  
 कहना तू जैसे ही जैसे कहती हूँ मैं सुन, दे ध्यान ।

० राव, कामदेव की खा । † शिव के अनर्धान होने पर ।

( ८८ )

“मैं वियोगिनी हूँ अभागिनी, नहीं निकलते मेरे प्राण ;  
दर्शन दो आकर अब मुझको हे प्रियतम ! वन व्या-निधान ।  
प्रिय - मुख - चंद्र देखने को ही तबफ रहे हैं नेत्र-चकोर ;  
मेरा हृदय मत्तगल - जैसे फिरता रहता है खव धोर ।

( ८९ )

“स्वर्ग के आने के पहले ही नाथ हो चुके मेरे आप ;  
क्यों फिर देर लगाते हो निज दर्शन देने में निष्पाप !  
मैं अब इससे अधिक क्या कहूँ, स्वयं दक्ष हो प्राणाधार !  
मैं पलटूँगी कभी नहीं अब, भले पलट जावे संसार ।

( ९० )

“हो सकती है पृथक् चद्र से चारु चंद्रिका हे प्राणेश !  
सदा प्रफुल्लित रह सकती है कलित कमलिनी विना दिनेश ।  
जी सकती है मीन विना जल, पिक वसंत में विना रसाज ;  
चकवी चकवे विना हर्ष से खो सकती है दिवस विशाज ।

( ९१ )

“अमरी विना पद्म को देखे ले सकती है दिन-भर श्वास ;  
और कुमुदिनी खिल सकती है कुमुदिनि-पति के विना प्रकाश ;  
किंतु भीमजा रह सकती है नल के विना नहीं निष्पाप !  
ऐसा हृद निश्चय कर मुझको शीघ्र दीजिए दर्शन आप ।

( ९२ )

“अगर आप भी कर लें जो अपनी पत्नी और सुजान !  
तो भी आप रहोगे मेरे प्राणनाथ प्राणों के प्राण ।  
घब चाहे कुछ ही हो, मैं तो वरण कर चुकी हूँ पति एक ;  
कभी न तोड़ूँगी इस प्रण को, कभी न छोड़ूँगी यह टेक ।



( ६३ )

“वर होने की उरकट इच्छा करें प्रकट जो हरि भी आज—  
और मुझे वे टे भी देवें इन सारे लोको का राज—  
तो भी मैं उनको न वरूंगी, केवल यही करूंगी काम—  
मर जाऊँगी, प्रण न तर्कूँगी, तुम्हें भर्जूंगी आठो याम ।

( ६४ )

“मैं तो अब कह चुकी यही तू राजहंस कह देना बात ;  
अन्य भूप को मैं न वरूँगी राजी से क्या, नहीं वत्तात ।”  
इतना सुनकर हंस उठ गया, नल की आई उसको याद ;  
वहाँ शीघ्र पहुँचा फिर लेकर हर्ष-भरा यह शुभ संवाद ।

( ६५ )

आदि-श्रंत तक सुनकर उसको हंस प्रकार वे हुए प्रसन्न ;  
जैसे उनमें परब्रह्म का ज्ञान हो गया हो डल्पन्न ।  
वे मराल को मञ्जुल मोती जुगा-जुगाकर करते प्यार ;  
कहते उससे—“सुक हूवे का हुआ एक तू ही आधार ।”

( ६६ )

राजहंस को गया देखकर भैरवी करने लगी विचार ;  
हरि-इच्छा होगी, तो मेरा हो जावेगा वेवा पार ।  
नल-दर्शन अब मुझे मिलेंगे, यही लगन रहती दिन-रात ;  
सखियों को भी ज्ञात हो गई उसके गुप्त प्रेम की बात ।

( ६७ )

भैरि-स्वयंवर-हेतु हुई जो विविध बनावट—

भीम-नगर के बीच स्वच्छता और सजावट ।

यही लक्ष्य है एक ठीक उसको दिखलाना ;

बतलाना है और वहाँ फिर नल का आना ।

## पाँचवाँ सर्ग

( १ )

नल के लिये जब भीमजा थी पूर्ण विह्वल हो गई,  
उस विरह-विधुरा की दशा जब और न्याकुल हो गई,  
तब सहचरी-समुदाय को चिंता महा होने लगी,  
जो शीघ्र उनके धैर्य को भी चित्त से खोने लगी।

( २ )

वे पूछतीं उससे सभी—“क्या हो गया तुम्हको बत्ता ?  
ऐसे छिपाकर बात को तू क्यों रही हमको सत्ता ?  
है कष्ट ऐसा कौन-सा जो नष्ट हमसे हो नहीं ?  
मिट जायगा क्या क्लेश तेरा यों छिपाने से कहीं ?

( ३ )

“जह कोकनद-मदहारिणी क्यों उड गई मुख-नालिमा ?  
क्यों नील नीरज-लोचनो की छा गई यह कालिमा ?  
क्यों आज नीरस दल-सदृश मुख-रंग पीला पड गया ?  
क्यो चंद्रिका से हीन है वह चंद्रमा होकर नया ?

( ४ )

“क्यों अन्न-जल को छोडने की बात तुम्हको भा रही ?  
क्यों चारु घंचल चित्त पर है यों उदासी छा रही ?  
क्यों है सुदुर्बल देह में आलस्य-देवी धा रही ?  
यह रात-दिन रसना बत्ता गुण-गान किसका गा रही ?

( ५ )

“हा ! पुष्प-सी निज देह को तू तुल्य कंटक के बना—  
परिचारिकाओं को भला क्यों दुःख देती है घना ?  
क्या बात ऐसी हो गई, क्यों बुद्धि तेरी खो गई ?  
क्या बीज चिंता का हृदय में दुष्ट भावी जो गई ?

( ६ )

“है धाज तू तन-तेज को क्यों पीत मणि-सम कर रही ?  
अनमोल गोल कपोल-युग की क्यों गुलाबी हर रही ?  
ओहो ! कनक-कण करों में हैं कहाँ तरु बड़ गए—  
आते कलाई पर कसे वे बाहुओं तक चढ़ गए !

( ७ )

“कटि की दशा भी देख तू, जो अब न मुट्टी-भर रही ;  
आश्चर्य है, कुच-भार का यह सहन कैसे कर रही !  
आधार छ इसका जो महा दृढ, पुष्ट, गुरु होता नहीं ,  
तो इन्द्र-करि-कर-युग्म † तेरा काँप उठता हर कहीं ।”

( ८ )

ये वचन सुन कहती उन्हें वह—“मन न मेरे हाथ है ;  
उसको उड़ाकर ले गया वह हंस अपने साथ है ।  
सखियो ! कहो तुम, किस तरह मैं घैर्य अब धारण करूँ ?  
विधि कौन-सी है, कष्ट को मैं शीघ्र ही जिससे हर्ऊँ ?

( ९ )

“चित्त-चौर रहकर दूर देता दुःख क्यों भरपूर है ?  
अपने सदृश विधि ने उसे भी क्यों बनाया क्रूर है !  
हा ! क्या करूँ, किससे कहूँ, कैसे रहूँ, क्या-क्या सहूँ ?  
प्रिय के विरह के सिंधु में मैं इस तरह कब तक यहूँ ?

† जघामें । † पुरावत का सँड का जोडा अर्थात् बंधारे ।

( १० )

“आटा न मुझको तैरना, यह छा रहा तम-भार है,  
नौका नहीं, नाविक नहीं, कर में नहीं पतवार है ।  
बैठा हुआ उस पार वह छ, मैं वह रही मरुघार में ।  
बस डूबना ही शेष है अब विरह-सिंधु अपार में ।

( ११ )

“सखियो ! तनिक साहस करो, कुछ तो बदाओ हाथ को ;  
आओ, बचाओ अब मुझे, छोड़ो न मेरे साथ को ।  
मैं बुद्धि-हीना हो गई हूँ, हो गई दीना महा ;  
जीना उसी का व्यर्थ है, जो ज्ञान से चीया महा ।

( १२ )

“सखियो ! कलकी चंद्र को किमने सुधाकर है कहा ?  
यह ज्ञात होता है मुझे तो अग्नि का गोला महा ।  
जो अंशुपूँ इसकी कुमुद को समुद है हर्पा रहीं—  
वे अग्नि के अंगार मुझ पर थाज क्यों वर्षा रहीं ?

( १३ )

“है चंद्रिका इसको न लूवि, यह जाल है, जंजाल है ;  
जो विरह-विधुरा नारियों को कर रहा बेहाल है ।  
है नारा पाश विचित्र यह या गरल-सिंचित वध है ;  
या अस्त्र है पक्षत का, या पचशर का शस्त्र है ।

( १४ )

“हो इंद्रियों ने शिथिल जब शीलांशु इसको कर दिया—  
तो फिर तरुणता प्राप्त करने काम यह इसने किया ।  
शिव-भाज से नीचे उतर, भर जोचनो में कालिमा—  
यह खा गया स्मर-भस्म को है यह उसी की कालिमा ।

\* मेरा इष्टदेव नल ।

( १५ )

“स्वामी-विरह-पीडित स्त्रियों को सिंधु-जल-सम खींच के,  
 उनको सुधा के निज कर्तों से यह विना ही सींच के।  
 निज पेट में रख दग्ध करता है उन्हें अति क्रूर हो,  
 यह धूम उनकी उड़ रही मत कालिमा इसको कहो।

( १६ )

“या शेष जीवित नारियों ने विनय शिव से की यही—  
 ‘हे नाथ ! है स्त्री-जाति विधु से कष्ट क्या-क्या सह रही ?’  
 उनने इसे रख भाल पर जो विष पिलाया है तभी;  
 है यह उसी की कृष्णता जो दीखती इसमें अभी।

( १७ )

“अथवा कलंकी चंद्र में जो पाप और कलंक है—  
 उससे कलकित हो रहा इस बंक सुर छ का अंक है।  
 या स्नान करके रोहिणी पति अंक में स्थित हो रही—  
 फैला कर्चों को और उनकी आर्द्रता है खो रही।

( १८ )

“जो चारु चदन-पंक तुमने अंग पर मेरे मला—  
 हिम-कर-करों से हो गया है उष्णतम वह भी भला।  
 इनने † निया तन-निकटवर्ती नीरजों का अत है—  
 यह चंद्रमा क्यों सूर्य ने भी ताप-कर अत्यत है ?

( १९ )

“सखियो ! न काम-ज्वर मिटा है कमल-मृदु दल-सेज में ;  
 फर्पूर - लेपन से फमी आई न इसके तेज में।

\* कुटिल देख । † चद्र-किरणों ने ।

जो मिष्ट, शीतल, पुष्प-रस मुझको पिलाया है अभी ,  
इसने घदज होकर उले भी कर लिया स्वाहा सभी ।

( २० )

“दोपी बताती तुम मुझे, पर दोष यह मेरा नहीं ।  
क्या जानकर भी देह को जन दुःख देता है कहीं ?  
मैं स्वामि - दर्शन के लिये ही शोक करती हूँ महा,  
है इमलिये अति पीत, दुर्बल अंग मेरा हो रहा ।

( २१ )

“धिता चित्ता से भी दही यह बात है सच्ची सदा ;  
वह मृत जलाती, किंतु यह दे जीवितों को आपदा ।  
मंसार में है मार्ग होता बहुत बाँका प्रेम का ;  
जो मुक्ति का भी डार है, आगार है जो चैम का ।”

( २२ )

वह यो कहा करती रुदनकर श्रेष्ठ सखियों को सभी ,  
मुक्ताफलों की लोचनों से वृष्टि भी करती कभी ।  
जल-विट्ट-युत अंभोज-मम था वदन उसका सोहता—  
होकर मनोहर और दुर्बल भदन - मन था मोहता ।

( २३ )

नैपथ-विरह में आँसुओं को डाल वह यों सोहती—  
स्त्री - रूप - धारी कांति मानो रुदनकर मन मोहती ।  
दो शक्तियों ने प्रकट की थीं मोतियों की या लही ;  
मकरंद की थीं चिंतुर्षु या दुगल पद्मों में पदी ।

( २४ )

उस सुख-सुधाकर से सुधा की त्रिदुर्षु गिरकर बही—  
कुछ था कुछो पर बिखर जाती, कुछ वहाँ रहती पदी ।

मानो मदन - करि - कुंभ - युग गज-मोतियों से युक्त था ;  
या शिशिर ❁ मुकुजित पद्म-युग ही ओस-कण उपभुक्त था ।

( २५ )

वह काठ की पुतली बनी थी सोहती पकांत में—  
मानो उमा तप कर रही थी निज पिता के प्रांत में ।  
अथवा महामाया किसी को बद्ध करने लाल में—  
नव युक्ति को थी सोचती हो विफल पहली चाल में ।

( २६ )

या श्रेष्ठ कल्याण-रस अलौकिक रूप नलना का किए—  
तप कर रहा शृंगार से था शीघ्र मिलने के लिये ।  
नल के विरह में भीमजा ही या विकल थी हो रही—  
सुविशाल भीमागार में निज सौख्य को थी खो रही ।

( २७ )

पल्लटाव देखा जन्मदा ने निज सुता-व्यवहार में,  
धामोद और प्रमोद में भी, वचन में, आचार में ।  
उसने कहा—“इस रोग की भी क्या चिकित्सा है कहीं ?  
पर वैद्य की यह औषधों से मिट कभी सकता नहीं ।

( २८ )

“तो फिर यही है ठीक करना विनय ऐसी नाथ से—  
हे प्रिय ! सुता को दीनिष्ट छुवि योग्य वर के साथ से ।  
करने नरेशों को निमंत्रित अथ स्वयंवर कीनिष्ट ;  
स्वामिन् ! स्वजीवन-लाभ कन्या-दान करके लीनिष्ट ।

---

\* उभरते हुए कुचों की कठिनता प्रतीत करने के लिये शिशिर-शब्द को मुकुजित कमल-पत्ती की उपमेजा है । अर्थात् ओस-कण-ममान ये ।

( २६ )

“यह सत्य है, गुण-गोह हो वह और कुल-यश-कारिका—  
पर अंत में मन-दारिका छ ही जान पड़ती दारिका ।  
जो शीश-मणि है कुंदली के कण्ठ-मय की हारिका—  
हो जायगी उसके लिये ही वह कभी मुद-मारिका ।

( ३० )

“है मधु फलों की राशि जिसके सामने ढाली गई,  
स्वादिष्ठ भोजन से सदा जो प्रेम से पाली गई,  
मीठे सुनाकर वचन जो उठ जाय ऐसी सारिका,  
वो क्या स्वपालक-हेतु वह होगी नहीं सुख-हारिका ?

( ३१ )

“आराम-तरु-छवि-वर्धिनी, अति सौख्यदा सुंदर कली—  
उसके जनक को और सबको ज्ञात होती है भली ।  
पुष्पित † हुई, वंघन-सहित वह कठ कष पर के पड़ी—  
तो क्या पिता को वह नहीं देगी न्यथा मन में कही ?”

( ३२ )

यों सोच उसने एक दिन फिर भीम राजा से कहा—  
“हे प्राणनाथ ! समर्थ ! मेरी प्रार्थना सुनिपु अहा !  
है आपकी कन्या सुयोग्या हो गई, वर के लिये—  
इससे स्वयंवर - हेतु अपनी आप आशा दीजिए ।”

( ३३ )

निज-रान-महिषी-प्रार्थना को समुद्र उतने मान ली—  
करना यही अब उचित है, इस बात को भी जान ली ।  
उतने पुरोहित को वहाँ पर शीघ्र ही बुलवा लिया,  
जिसने सुहृत् महान उत्तम भीम को बतला दिया ।

\* दुःख देनेवाली, विदीर्षा करनेवाली । † शिल्पि ।



( ३४ )

होने लगी सुंदर सजावट प्रथम देवागार में,  
द्विज-गोह में, नृप-सन्न में, फिर बाग में, बाजार में।  
ये राजपथ के मार्ग भी सारे सजाए जा रहे,  
जो शिल्पियों का हस्त-कौशल थे भला दिखला रहे।

( ३५ )

सुविद्याल पुष्प - द्वार पुर में फिर किए निर्मित गए।  
मन-मोहिनी छवि के सहित थे मधुर देते गंध ये।  
ऋतुराल-भूषण थे कि या ये सुमन-शैल महान थे;  
या थे अलौकिक कातिवाले रम्य रत्न - निधान थे।

( ३६ )

अथवा सुयश ही भीमजा का रूप पुष्पों का किए—  
स्थित था नृपों के हृदय में लज्जा बढ़ाने के लिये।  
शैमी - स्वयंवर - स्वर्ग के या खुल रहे थे द्वार थे—  
जो श्रेष्ठता, रमणीयता के हो रहे आधार थे।

( ३७ )

यों धातुओं की मूर्तियाँ स्थित की गई बाजार में।  
कुछ भी कमी रखी न उनके अंग के शृंगार में।  
या जीव ही उनमें नहीं, त्रुटि और थी कुछ भी नहीं।  
अति दक्ष रचना में मला क्या दोष रदता है कहीं ?

( ३८ )

ये चार चित्रों से सभी के गेह चित्रित हो रहे,  
जो दर्शकों के नेत्र के चापत्य को थे खो रहे।  
पर चित्रकारों ने दिखाए भाव थे उनमें कई।  
अपनी सुमति से प्रकट की यों युक्तियाँ सबमें नई।

( ३६ )

राजा जनक की वाटिका का चित्र अति अभिराम था ;  
जिसमें निकट सर के बना था मंजु गिरिजा-धाम था ।  
आकर इसी के सामने श्रीजानकी स्थित थी कहीं ;  
श्रीराम-लक्ष्मण चुन रहे थे पुष्प भी सुरमित वही ।

( ४० )

सीता-स्वयंवर का कहीं पर चित्र चित्रित हो रहा ;  
आनंद-मंगल-वीज को था जो नगर में बो रहा ।  
श्रीराम-रावण-युद्ध की विधि शुद्ध बतलाइँ कहीं ।  
कर पर दिखा गिरि पवन-सुत की शक्ति जतलाइँ कहीं ।

( ४१ )

नरसिंह के धवतार की भयदा कहीं पर सृष्टि थी ;  
भागंतुकों की आप ही गिरती जहाँ पर दृष्टि थी ।  
भ्रुव की तपस्या का कहीं पर चित्र था सुंदर महा ।  
मोहन मदन का दहन भी चित्रित कहीं था हो रहा ।

( ४२ )

श्रीकृष्ण की उस वाज-लीला के कहीं पर चित्र थे ।  
सुंदर कहीं पर जाह्नवी के तीर-दृश्य पवित्र थे ।  
या श्रेष्ठ कुंडिन-नगर जो सर्वत्र शोभित हो रहा ।  
सुविशाल देश विदर्भ की जो राजधानी थी महा ।

( ४३ )

विस्तार देख अपार इसका और अतुलित संपदा—  
यह ज्ञात होता था, यही है लोकगण की जन्मदा ।  
उत्पन्न करके यह उन्हें है हो गई अति दुर्भंगा ।  
आरच्य वषा, होते बड़े हैं पुत्र माता से भजा ।

( ४४ )

संसार-भर की दर्शिनी छ ही वह बना दी थी गई ;  
 उममें बनाए थे गए सुंदर अजायब-घर कई ।  
 थीं नाट्य-शालाएँ वहाँ सुरनाथ-मंदिर से बड़ी ;  
 होता मनोरंजन जहाँ था दर्शकों का हर बड़ी ।

( ४५ )

सारी तरह के खाद्य थे, थे और न्यंजन-वर जहाँ ;  
 तैयार रहते थे सदा फल-फूल भी उत्तम वहाँ ।  
 शीतल-सुगंधित नीर की थी न्यूनता कुछ भी नहीं ।  
 था प्राणियों को स्वर्ग का आनंद मिलता हर कहीं ।

( ४६ )

प्रारंभ रखती थीं क्षिरियाँ अति मंजु मंगल-गान को ;  
 जो नष्ट करता था पिको के कंठ के अभिमान को ।  
 सौभाग्य-युक्ता नारियाँ ही और शुभ उपचार को—  
 थीं पूर्ति देती हो विभूषित और कर शृंगार को ।

( ४७ )

पुर में स्वर्धर-भवन की थी रम्य रचना की गई ;  
 थी और उसके पुष्प-पट-युक्त कोट की छवि दी गई ।  
 था मंजु मठप मध्य में शाल्यंत शोभित हो रहा ,  
 जिसको अभी देगी अलौकिक भीमजा शोभा महा ।

( ४८ )

मातृद-आतप से बचाने एक उच्च वितान था ;  
 जिस पर जरी का काम था, जो रम्य रत्न-निधान था ।  
 शोभा स्वर्धर की निरख होवे अमर सज्जित नहीं—  
 इस बात के ही हेतु से ताना गया था वह वहीं ।

( ४६ )

पाकर निर्मंत्रण भीम का राजा वहाँ आने लगे ;  
वे और निज अनुकूल ही सम्मान भी पाने लगे ।  
गंधर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस और सुन्दर नाग भी—  
नर-रूप धारणकर वहाँ पर आ गए संभ्रम ॐ तमी ।

( ४७ )

संवाद नारद ने यही था स्वर्ग में पहुँचा दिया ;  
भैमी-गुणों का भी वहाँ पर इंद्र से वर्णन किया ।  
उसने कहा यम, वरुण, शुचि † से वज्र लेकर हाथ में—  
“बलिष्ठा वहाँ पर आप तीनों आन मेरे साथ में ।”

( ४८ )

पाकर निर्मंत्रण निषध - नायक चित्त में हर्षित हुए ।  
वे और सबसे अधिकतम उसने समाकर्षित हुए ।  
हरि से विनय करने लगे—“हैं ज्ञात सब कुछ आपको ;  
भगवन् ! मिटाते हो तुम्हीं निज भक्त के संताप को ।

( ४९ )

“अब दीजिए वरदान जिससे कामना परिपूर्ण हो ;  
मेरे महा शोकारि का भी शोच ही अब चूर्ण हो ।  
भैमी बनावे वर मुझे ही नाथ ! यह वरदान दो ;  
प्रसु-पद-सरोजों का सदा ही और मुझको ध्यान दो ।

( ५० )

“हैं आप दीनानाथ, मुझ-सा और दीन न है कहीं ।  
हैं दुःखहर्ता आप मुझ-सा और दुःखिया है नहीं ।  
सुनिष्ठा प्रभो ! यह प्रार्थना, हरिष्ठा हरे ! चिन्ता महा ।  
संसार ने है आपको ही शोकहर, मोक्षद कहा ।”

• अतिशोच । † अग्निदेव ।

( २४ )

यों प्रार्थना कर सैन्य पति से भूप ने ऐसा कहा—  
 'मेरे लिये है आज का दिन मांगलिक कैसा अहा !  
 सेना-सहित ही मैं चलूँगा श्रेष्ठ कुडिन को अभी ।  
 पूरी करेंगे ईश मेरी कामनाओं को सभी ।

( २५ )

"मत देर कर, जा पूर्ण कर तू शीघ्र इस आदेश को ;  
 सज आ, सजाकर जा, सजीले ! सैन्य वर के वेप को ।"  
 सुनकर सुखद आदेश को वह सैन्य में फिर चल दिया ।  
 अचिरात ही परिपूर्णा सारे काम को बसने किया ।

( २६ )

नल-बाहिनी-पद-धूलि से था व्योम में तम छा गया ।  
 रवि-भीति से मानो तिमिर नल-शरण में था आ गया ।  
 अथवा गुफाओं में वही या शीघ्र छिपने जा रहा ;  
 या धूम-घन-युत नल रही थी नल-वियोगाऽनल महा ।

( २७ )

सारी मही पर छा गया रज-अंधकार महान था ;  
 नल-शीश पर था तन गया मानो विशाल वितान था ।  
 "क्या यह प्रलय का काल है," ऐसा सभी कहने लगे ।  
 जो भीरु थे, वे भीत होकर कष्ट सब सहने लगे ।

( २८ )

मैत्री-वदन-छवि को किसी की दृष्टि लग जावे नहीं—  
 इस हेतु से कृत्रिम तिमिर ही छा दिया नल ने वहीं ।  
 या वे यही थे देखने क्या नष्ट तम हो जायगा—  
 वह भीमजा - वदनेदु - छवि के सामने बच आयगा ।

( ५६ )

भय से नहीं वनचर कहीं पर दौड़ते उस काल थे ।

रथ-शब्द से उड़ते न खग होकर बड़े बेहाल थे ।

थे किंतु नल को देखकर वे कोप, चिंता कर रहे ;

थे भावनाएँ बहुत - सी वे और मन में भर रहे ।

( ६० )

पशु-वृंद कहता था यही—“हे पशुपते ! यह क्या किया ?

गौरी-वृषभ को क्यों न तुमने संग में अपने लिया ?

है वह हमारा मित्र उस पर कोप अनुचित सर्वथा ;

जातीय का अपमान हमको दे रहा दुस्सह व्यथा ।”

( ६१ )

यह विहग कहते थे—“हरे ! विहगेश ॐ की समता कभी—

यह यान कर सकता नहीं है काठ का पल-मात्र भी ।

निज वर्ण को क्यों गौर करते शेष-शरणा छोड़ के ?

क्यों दुःख देते हो हमें खग - नाथ ॐ से मन मोड़के ?”

( ६२ )

नल - दर्शनाऽमृत-पान - हित जल-जीव सब छोटे-बड़े—

नीराग्यों को छोड़कर आकर तटो पर थे खड़े ।

वे मानकर नल को वरुण उनसे यही थे कह रहे—

“अथ तक प्रभो ! हम आपके विरहाऽविध में थे बह रहे ।”

( ६३ )

नर और नारी आ रहे थे दौड़ निज-निज ग्राम से—

अति शीघ्र मिलने के लिये नल-काम से, अभिराम से ।

थे उस अलौकिक त्रिभय को वे देखकर कहते यही—

“यह इंद्र से बढ़कर सवारी धाज किसकी आ रही ?”

( ६४ )

निषघेश निज दर्शन सभी को मार्ग में देते हुए—

अति मांगलिक आशिष द्विजों से अभिलषित लेते हुए—

अति कांत कुण्डिन - नगर के प्रतिदिन निकट थे आ रहे ।

वे और सारी भूमि पर मुद-वृष्टि थे वर्षा रहे ।

( ६५ )

स्वार्थ-त्याग जगत में करके जिसने सहर्ष दिखलाया—

है उसकी ही सफला माया - मुक्ता - विमोहिनी काया ।

---

## छठा सर्ग

( १ )

व्योमयान को मजा, भीमजा - सुग्ध पुरंदर छ,  
 बैठा करके तीन + सुरों को उसके शंकर,  
 नभ-पथ से जय चला, कुलिश वो कर में लेकर,  
 कुंदिनपुर की शोर चित्त को शक्ति मुद से भर,  
 तब विमान को मान कर. स्वपति, सगेश्वर दुःप्रहर—  
 नमस्कार करने ठहे फर-फर करते व्योमचर।

( २ )

भैमी ही के एक विषय में बातें करते,  
 अपने मन में कई भय भावों को भरते,  
 "नारद मुनि के वचन सत्य हैं", ऐसा कहते,  
 और प्रेम के महामिथु में रहने-गहने,  
 अपने लक्ष्य-समीप शक्ति शीघ्रतया फिर पहुँचकर—  
 एक सैन्य चतुरंगिणी देगी उनसे भूमि पर।

( ३ )

जिसमें स्पंदन एक खटा या जन-मन-मोहन,  
 दिग्दक रही थी छुटा यहाँ जिसकी शक्ति शोभन।

७ इ. स. ५, १२५० में नारद द्वारा इन्द्रा के श्वशुर का एक व्यक्ति  
 का नाम नभ-पथ था। शक्ति का अर्थ है। इ-से इन्द्र का एक श्वशुर  
 सुग्ध था। न शक्ति, नभ शक्ति, शक्ति का अर्थ है नभ-पथ का अर्थ है।



नल-वैभव को देख चित्त में चिंतित होकर,  
बोला ये वर वचन सुरों को मंद पुरंदर।

“अश्व, सारथी, रथ, रथी और सैन्य अश्वौह्विणी—  
है इनकी मुखकारिणी शोभा सुर-मद-हारिणी।

( ४ )

“लेते हैं अवतार मनुज का कई वार जो—  
होते हैं साकार मिटाने भूमि-भार जो—  
क्या वे ही लोकेश विष्णु यह वेप बनाकर—  
करके फिर विहगेश, रमा का निरा निरादर—  
सुमनसगण-मन-मोहिनी मैत्री का मन मोहने—  
वर बनने को जा रहे, कुंडिनपुर में सोहने।

( ५ )

“अथवा गौरी-नाथ छोवकर निज गौरी को—  
गौरी से भी मान, महा गौरी मैत्री को—  
निज नंदी का चार हयों का रूप बनाकर—  
मनुज-रूप में आज जा रहे वन मैत्री-वर।  
या मेरा उच्चैश्रवा चार रूप धारण किए—  
जुता हुआ है भूमि पर रथ में उनके ही लिये।

( ६ )

“क्या जयतक्ष ने प्राण कुटिल यह चाल चली है ?  
कैसी इसकी मूर्ति देखिए आप भली है !”  
“नहीं-नहीं प्रभु-पुत्र” कहा यम ने यह सुनकर ;  
“सहस्राक्ष† यह नाम आपका मूठ सरासर।

---

\* इंद्र का पुत्र । पिता को अत्यंत क्रूरूप में अपना पुत्र अतीव सुंदर प्रतीत होता है । † हजार नेशवाला ।

प्रेमी उनकी है कहाँ, कहो आप ही वदन-छवि ;  
स्पष्ट दिखाई दे रही मुझको तो यह मदन-छवि ।”

( ७ )

कहा अग्नि ने—“नाथ ! गजुज का तनु धारण कर—

बैठा रथ में महा रूप है मानो सुंदर ।

जाता है यह कात-कांति ललना के सम्मुख ;

भोग रही जो अभी भीम के यहाँ मोठ-सुख ।

स्त्री-तनु-धारिणि कांति का, पुरुष-वेष-धर रूप का—

है वैसा जोटा मिछा, जैसा शक्ति-सुर-भूष का ।”

( ८ )

“तीनों की ही घात झूठ है”, बोला जलपति—

“है यह नल नृप-रत्न प्रेम से जो विह्वल अति ।

इसके रहते तुम्हें भीमला नहीं वरेगी ;

सत्य मानिए आप और को वर न करेगी ।

ठकटे चलिए स्वर्ग को, यहाँ दाल गलनी नहीं ।

नहीं मिलेगी दूसरी रूप-राशि ऐसी कहीं ।”

( ९ )

“स्वामिन् ! अब क्या करें, हो गई आशा निष्फल ।

इसे देखकर मची हृदय में मेरे खलबल ।

मुझे कर रही भस्म महा प्रेमाऽनल जल-जल ;

जाता है अब हाथ ! कष्ट से मेरा पल-पल ।

लाल-लाल इस अग्नि को, काले-काले काल को ;

कौन चरेगा हा ! मुझे, छवि-वृत्त जल भूपाल को ।”

( १० )

करुण वचन सुन इंद्र वरुण के, अरुण नेत्र कर—

कहने लगा—“जलेश ! हो रहे हो क्यों कायर ?

मेरे सम्मुख भला इस तरह बातें करते ;  
 निज को कह असहाय, हर्ष हो मेरा हरते ।  
 मुझ-जैसा स्वामी सदा है रक्षा-हित पास जब—  
 तुम अनाय के-से वचन, कहते हो क्यों मित्र ! तब ?

( ११ )

“सुनिए तो, यह युक्ति मुझे सूझा है मुंदर—  
 नल राजा को आज डंभ से दूत बनाकर—  
 दमयंती के पास भेज दें यह कहलाने—  
 इंद्र, अग्नि, यम, वरुण खड़े हैं तुझको पाने ।  
 जो उनमें से श्रेष्ठ है, रूपवान, बलवान है ;  
 उसे बना ले स्वपति तू, जो सबसे गुणवान है ।”

( १२ )

हुआ इस तरह ज्ञात युक्ति को जलपति सुनकर—  
 फिर से मानो प्राण था गए शव के भीतर ।  
 “स्वामिन् ! चलिए शीघ्र आप नल राजा सम्मुख ,  
 काम कीलिए वही, मिले जिससे हमको सुख ।  
 इस विमान को आप अब छोड़ स्वच्छ आकाश में ;  
 जाकर उसको भेजिए दमयंती के पास में ।”

( १३ )

देवो पर भी स्वार्थ अहो ! शासन करता है ।  
 वश्य चित्त का धैर्य शौर्य ये यह हरता है ।  
 उन सबको निष्काम शास्त्र फिर क्यों कहते हैं ?  
 जब कि कामना-सिंधु-मध्य वे भी यहते हैं ।  
 उनसे तो वे नर भले, मुद से मन को मोड़कर—  
 तो पर-हित-रत हो गए, महा स्वार्थ को छोड़कर ।

( १४ )

सुर, नर, मुनि, गंधर्व स्वार्थ में रत हैं सारे ।  
वे क्या, इससे स्वयं जगत्पति भी हैं हारे ।  
विप्र-चरण का चिह्न देखकर चपला कमला ;  
हो जाती है शीघ्र आप ही अचला अमला ।

यह विचारकर विष्णु ने उर पर धारण कर लिया—  
भृगु भूसुर-पद-चिह्न को है श्रीको यों स्थिर किया ।

( १५ )

जो लक्ष्मी से अधिक काति धारण करती थी ;  
रंभा के भी सर्वं गर्व को जो हरती थी ।  
जिसने जप-तप घोर रुद्र-हित कभी किया था,  
और पाश में उन्हें अंत में बाँध लिया था ।

ऐसी गिरिजा को महा हर्षित करने के लिये—  
अपने तन के भाग दो श्रीशंकर ने हैं किए ।

( १६ )

कतु धन्य है ईश, धन्य नर-जाति सुहावन ;  
स्वार्थ-स्थाग की शक्ति मिकी है जिसे सुपावन ।  
धन्य, धन्य, अति धन्य मनुज वे ही होते हैं—  
जो निज सुख को छोड़ दुःख पर का खोते हैं ।

हैं जो पर-उपकार को प्रथम धर्म निज मानते ;  
स्वार्थ-पराधण बुद्धि को कल्मष-कलुषित जानते ।

( १७ )

वरुण-वचन सुन इंद्र सुरों को शीघ्र साथ कर ;  
व्योमयान को छोड़ व्योम में उतरा भू पर ।  
महाविकट भट-कटक-सिधु को अटक-अटक तिर—  
नत्त राजा के अश्व-यान के पास गया फिर ।

विहगेश्वर स्थित हरि-निकट, अमर-निकर मानो गया—  
वन विनीत, करने बिनय, लेने को कुछ वर नया ।

( १८ )

शिव-समाधि को अचल देखकर अचल-शिखर पर—  
६०१५ पाणिग्रह के योग्य उमा को हुई जानकर—  
अति पीडित सुर-निकर त्रिपुरा-कृत कष्ट मिटाने—  
मानो रति-पति-निकट गया हो यह समझाने—  
“समाधिस्य शिव को अभी जाकर विचलित कीजिए ;  
गिरिजा पर अनुरक्त कर उनको फिर यश कीजिए ।”

( १९ )

कहा उन्होंने यही पास में नल के जाकर—  
“नैषध ! हैं हम धन्य, सामने तेरे आकर ।  
तू सत्यव्रत, वीर, यशस्वी, परोपकारी,  
धर्म-धुरंधर, धीर और है धरि-सहारी ।  
दे सहायता तू हमें आज हमारा दूत बन ।  
हे नल ! है तुम्हसा नहीं, कहीं जगत में श्रेष्ठ जन ।”

( २० )

नल ने कहा सहर्ष—“थाप कहिए निज परिचय ?  
कौन चाहता दूत मुझे, पाने को त्वविजय ?  
करने उसका काम दूत मैं हो सकता हूँ,  
और शक्ति-अनुसार कष्ट को खो सकता हूँ ।  
है मुझको विग्वास यह, सभी काम को पूर्णकर—  
आवंगा मैं शीघ्र ही उसके अरि का चूर्णकर ।”

( २१ )

सुन उत्तर अभिलपित इंद्र अति मुदित हो गया ;  
उसका सारा शोक आप-से-आप खो गया ।  
उसने ऐसा कहा—“भूप-वर ! हे कस्यामय !  
बड़े ध्यान के साथ हमारा सुनिष्ट परिचय ।

जो प्रसन्न वन स्वन्नन को टे टेते हैं श्रेष्ठ गति—

है हम वे ही देव-त्रय अग्नि, वरुण, यम, देवपति ।”

( २२ )

देख सुरों को पास खड़े नल ने स्थंदन से—  
उत्तर, नमन कर उन्हें, कहा यों निर्मल मन से—  
“प्रभुश्या ! मेरा भाग्य हो गया आज धन्य है ;  
मुझ-जैसा अब भूप जगत में नहीं अन्य है ।

मेरो इच्छा पूर्णकर, आज्ञा मुझको दीनिष्ट ;  
यह सेवक तैयार है, जो जो चाहे फीनिष्ट ।

( २३ )

“आज आपका काम ज़रा भी जो कर लूंगा—  
तो मैं सुरगण ! जन्म सफल अपना समझूंगा ।  
है मेरा अधिकांश कर्म करने में केवल,  
पर उसका आधीन आपके बुरा-भला फल ।

नव निधिघाँ सब सिद्धियाँ देनेवाले आप हैं ;  
प्रभुशो ! मेरी नाव को खेनेवाले आप हैं ।”

( २४ )

कहा इंद्र ने—“भूप ! हमारा तू धावन बन—  
जा मैत्री के पास और कर यही निवेदन—  
इंद्र, अग्नि, यम, वरुण कर रहे इच्छा तेरी ।  
हूँ मैं उनका दूत, गान तू त्रिनती मेरी ।

नर को वरने के लिये बदा न अपनी टेक को ;  
चाहे जिसको वरण कर उनमें से तू एक को ।"

( २५ )

पढ़कर टेढ़े चक्कर में नल्ल देवनाथ की सुन बातें—  
कहने लगे यही मन-ही-मन "ये बातें हैं या घातें ।  
भ्रूव फँसा मैं दिया गया हूँ महाजाल में सुर-गण से ;  
उसी हेतु आया है यह छ भी, आया मैं जिस कारण से ।

( २६ )

"हूँ मैं जिस पर स्वयं विनोदित उसे कहूँगा यह कैसे ?  
वर लो किसी देव को भैमी ! कष्ट सहूँगा यह कैसे ?  
औरों को मराल क्यों देगा मूल्यवान मुक्ता-माला ?  
तृपित कमी क्या देसकता है, पर को मृदु† रस का प्याला ?

( २७ )

"नहीं मनुज ही, पर जिस पर वा सुर-मुनि भी जालायित हैं ;  
धन्य-धन्य उस जलना-छवि को जिससे इंद्रादिक जित हैं ।  
इधर चलूँ तो प्रण रोकेगा, उधर चलूँ तो रूप बहा ;  
इधर गिरूँ तो गहरी खाई, उधर गिरूँ तो कूप बहा ।

( २८ )

"साँप-छूँदर की-सी हालत आज हो गई है मेरी ।  
अपरंपार ! हरे ! लीलाभय ! तू जाने लीला तेरी ।  
पार नहीं पाता है कोई, निज गति का तू ही पाता ।  
नाथ ! इस समय हाथ न छोड़ो, हो तुम ही मेरे आता ।"

( २९ )

यों विचारकर कहा इंद्र से नल्ल ने मन की छिपा न्यथा ;  
"एक प्रयोजन है दोनों का, एक लक्ष्य है और तथा ।

• देवता का मुंड । † लक्षणा से अमृत ।

फिर उससे मैं यों कहने को हा ! कैसे प्रस्तुत हूँगा ?  
और काम वतला दो मुझको, नाथ ! उसे मैं कर लूँगा ।”

( ३० )

“करने छ उसका काम, दूत मैं हो सकता हूँ” — “ये तेरे—  
कहे हुए हैं वाक्य या कि ये वतला दे तू हैं मेरे ।  
हैं सदैव सत्यव्रत होते क्षत्रिय, तू क्षत्रिय सच्चा—  
होकर वचन-पलट क्यों होता, हो तेरी इच्छा, अच्छा ।

( ३१ )

“प्रण तोड़ेगा जो तू, उससे मन मोड़ेगा नहीं अभी—  
तो तेरा उपहास करेंगे धीर, वीर, गंभीर सभी ।  
हूँसी बड़ेगी जब, तब जग में अपयश फैलेगा तेरा ;  
है † जो अधिक मृत्यु से इससे मान भला कहना मेरा ।

( ३२ )

“जिसने नर-उपकार किया है, उसने उत्तम फल भोगा ;  
देव-कार्य से तुझे अधिक फिर क्यों कल्याण नहीं होगा ?  
जा, जल्दी से समाचार जा, और यहाँ मत देर लगा ;  
हे नैपथ ! इस स्वार्थ-बुद्धि से तू अब मत रह हुआ ठगा ।”

( ३३ )

ऐसी विकट समस्या की भी पूर्ति वीर कर देते हैं ;  
अपने प्राणों से भी पर का महा कष्ट हर लेते हैं ।  
जो तज देते सभी स्वार्थ को, किन्तु वचन को कभी नहीं—  
ऐसे मानव-सिंह जगत में पैदा होते कहीं-कहीं ।

( ३४ )

नल ने कहा—“पूर्ण करने को प्रण को मैं तैयार अभी ;  
जा सकता है क्या कोई नर अंत-पुर में किन्तु कभी ?

\* २०वें छंद की तीसरी पाक्ति । † बदनामी ।



डारपाल, रक्षक-जन मुझको कभी नहीं आने देंगे ;  
दमयती के पास मुझे वे किस प्रकार जाने देंगे ?”

( ३५ )

“हे प्रियतम ! नल ! मत कर इसकी तू कुछ भी चिंता मन में ;  
किंतु बना रह पका केवल किए हुए । अपने प्रण में ।  
ऐसी सिद्धि तुझे देता हूँ, जिससे कोई पुरुष कहीं—  
तुझको देख सकेगा पुर में तेरी इच्छा बिना नहीं ।”

( ३६ )

देवनाथ से सिद्धि प्राप्त कर सजे सजाए रथ को छोड़—  
धीर, वीर सामंतगणों से और सैन्य से मन को मोड़—  
कुहिनपुर-छवि से नेत्रों को करते-करते सफलीभूत—  
भैमी-भवन-निकट जा पहुँचे नल होकर देवों के दूत ।

( ३७ )

वहाँ खड़े रहकर मन-ही-मन करने लगे पवित्र विचार—  
“क्या-क्या खेल दिखाते हो तुम जगदीश्वर ! हे अपरंपार !  
था वह भी दिन एक हंस को दूत बना मैंने कमलेश !  
दमयंती-समीप भेजा था होने को उसका प्राणेश !

( ३८ )

“किंतु आज मैं स्वयं दूत बन जाता हूँ आशा तल व्यर्थ ;  
भैमी से सविनय कहने को देव-धधू होने के अर्थ ।  
जिस लज्जना के लिये किए हैं कई काम हे जगदाधार !  
आज उसे ही हूँ मैं इच्छुक करने को पर का गल-हार ।

( ३९ )

“होती है प्रबला हरि-इच्छा, किंतु मुझे है यह विरवास—  
आप कभी भी नहीं करेंगे मेरी आशाओं का नाश ।

देवों मे भी तुम्हें अधिक प्रिय सदा तुम्हारा होता भक्त ;  
आप उसी का पार लगाते, जो रहता प्रभु में अनुरक्त ।

( ४० )

“सभी तरह असहाय हो गया, सुनिष्ट हे स्वामिन् ! मैं आज ;  
हाथ छ-पाँव भी मेरे चारों काट चुका है देव-समाल ।  
ऐसे इस अपंग को तुम भी कर दोगे क्या नाथ ! अनाथ ?  
और दया का हाथ हटाकर तज दोगे क्या इसका साथ ?

( ४१ )

“अधिक क्या कहूँ, घट-घट-वाली ! हे अंतर्धामी ! भगवान !  
शैली का पति देव न होवे, मैं न चाहता यह वरदान,  
किंतु यही है विनय, आज हो, जो कुछ हो बस न्यायाधार ;  
आप न्यायकारो हैं, सांचे, कित्से अधिक उसका अधिकार !”

( ४२ )

करके प्रभु ने विनय सद्य में गण शीघ्र फिर नल भूपाल ;  
दमयंती को लगे झूठने हो करके विह्वल तरकाल ।  
पाया उसको अतःपुर में सुंदर आयन पर आयीन ;  
सस्तीजनों से मोठी-भीठी बातें करने में नवलीन ।

( ४३ )

दमयंती के रम्य रूप मे करके वे निज नेत्र पवित्र—  
भूल गए अपने को, उनकी दशा हो गई और विचित्र ।  
न्तव्य भाव मे खड़े-खड़े कर, जटे हुप-से जोषन लोन—  
'बड़े धन्य ये' ऐसा फटकर लगे देखने छवि धनमोल ।

( ४४ )

नानो अद्भुत किसी वस्तु को वैज्ञानिक निज सूक्ष्म सुदृष्टि—  
द्वारा देख रहा, या चातक स्वाति-आगमन में धन-दृष्टि ।

नल नरेश

अथवा मधुलिङ्ग ताक रहा है फुल्ल पद्मिनी की ही धोर ;  
निरख रहा या पूर्ण चंद्र की चारु चंद्रिका चकित चकोर ।

( ४५ )

चरण, हृदय, कुचल, वदन, नयन-युग, नवल नलिन-युत नदी-समीप-  
परवश होकर देख रहा या बद्ध तृपिततम पथिक महीप ।  
कामजीव, सुर-हितकर शंकर अथवा होकर श्रंतर्धान—  
दृष्ट-व्यान-भद्रा गिरिजा की निरख रहे हों कांति महान ।

( ४६ )

ज्ञात हो रही थी वह ऐसी बैठी हुई सखीजन-मध्य—  
है वसंत-व्युत्त शोभा देती शरदादिक वर-ऋतुगाण-मध्य ।  
भवन-नागन-मंडल में अथवा पूर्ण-कलाधर-कला-कलाप—  
नष्ट कर रहा था अविमुदसे क्रोमल † कुमुदिनि मन-संताप ।

( ४७ )

या मंजुलतम नखियों में थी कौस्तुभ-नखि शोभा की खान ;  
या थी मंजु-मराळि-मध्य में राजहंसिनी कांति-निधान ।  
थी कुमुमित फल कलिकाद्यों में फुल्ल पद्मिनी अथवा एक ;  
मनोरमा दमयंती थी या निज सखियों के बीच अनेक ।

( ४८ )

नल उस मनोहारिणी छवि पर ऐसे हुए विमुग्ध महान,  
हूँ मैं कौन, मुझे क्या करना, इतना भी बस रहा न ज्ञान ।  
भूल गए वे महा प्रेम में, भूल गए कहना वक्तव्य ;  
नहीं जानते थे वे यह भी, हूँ मेरा अब क्या कर्तव्य ।

● कुच को कली की उपमा दी जाती है । † सखियों रूपों कुमुदिनियों ।  
दमयंती रूपी पूर्ण चंद्र-चंद्रिका ।

ठठा सर्ग

( ४६ )

पर मन में वे यों कहते थे—“सच्चा है <sup>107</sup> ~~खुशाल~~ ~~हुँ~~ ~~हूँ~~ ~~स~~ !  
अचर-अचर सत्य कहा जा तूने हे स्वर्ग-अवतल !  
तू ही मेरा जीवन-दाता, सफल कर दिया जन्म मदीय छ ;  
देता हूँ यह आशिष तुम्हको करेँ ईश दीर्घायु स्वदीय ।”

( ४७ )

योदी देर रहे वे यों ही, किंतु अंत में कुछ-कुछ ज्ञान—  
आने लगा उन्हें फिर, जिससे पैदा हुआ धर्म का ध्यान ।  
थे अदृश्य अथ तक, पर बनने प्रकट किया फिर अपना रूप—  
उसी सिद्धि के द्वारा, जिसको उन्हें दे चुका था सुर-भूप ।

( ४८ )

चौक पड़ी दमयंती पल में अपने देख अतीव समीप—  
एक अपरिचित युवा पुरुष को था जो क्षत्रिय-कुल का दीप ।  
लज्जा-भय से विवश हो गई वह निज कुल-वय के अनुसार,  
क्योंकि कठिन है अविचल रहना विस्मयकारक दृश्य निहार ।

( ४९ )

नल के महा तेज से सखियाँ सभी दब गई थीं ऐसे—  
दीप-शिखाएँ हो जाती हैं तरुण सूर्य-सम्मुख जैसे ।  
थीं वे रसना-युक्त, किंतु कुछ कह न सकीं फिर भी नल से ;  
खलबल क्योंकि भव गई मन में थी उनके इस दलचल से ।

( ५० )

नैपथ ने फिर कहा इस तरह उन्हें देख करके जुपवाप—  
“मुझे देख भय-भीत भला क्यों इस प्रकार होती है ध्याप ?  
अनुचित अभिप्राय से सखियो ! यहाँ मैं ~~मैं~~ ~~मैं~~ ~~मैं~~ ~~हूँ~~ ~~आ~~ ~~आ~~ ~~आ~~ ~~हूँ~~ ~~आ~~ ~~आ~~ ;  
शौर न मेरे आने को भी जान ~~सहेगा~~ ~~ननुज~~ ~~सनाच~~ ।”

( १४ )

इन गव्दों को सुनकर सबकी शीघ्र हो गई शंका दूर ;  
जमा लिया लज्जा ने उन पर निज अधिकार और भरपूर ।  
मौन-भाव की मुद्रा मुख पर देख सखी-जन के उस काल—  
स्मित-वदना दमयंती बोली सुधा-सदृश ये वचन रसाढ—

( १५ )

“होकर अतर्धान यहाँ पर किस कारण से आप आप ?  
कन्या के समीप में ऐसे आ जाना कहलाता पाप ।  
मेरे पिता उग्र शासक हैं और वीरता के हैं कंद ;  
आप महाशय ! किस प्रकार फिर यहाँ आ गए हैं स्वच्छंद ?”

( १६ )

“हे मैत्री ! मैं इंद्र, अग्नि, यम और वरुण का दूत पवित्र ;  
जिनने श्रेष्ठ तुम्हारी छवि के समाचार सुन महा विचित्र—  
सुनके यहाँ भेजा है कहने निज इच्छा को तुमसे आज ;  
और तुम्हें बतलाने तुम पर मोहित है सब देव-समाज ।

( १७ )

“हे कल्याणी ! उनमें से तुम किसी देव को वर लो आज ;  
ले लो और विना माँगे ही इस विशाल त्रिभुवन का राज ।  
ऐसा करने पर ही तुमको अमर बना देंगे अमरेश ;  
और तुम्हारी अमल कीर्ति भी हो जावेगी और विशेष ।

( १८ )

“नव-यौवन में है छोटा-सा दिखलाई देता आकाश ;  
उलटी-सीधी नहीं सूफती, बुद्धि नहीं रहती है पाप ।  
अपने-आप चला जाता है कहीं इवा स्नाने को शान ;  
और बुराई पर ही इससे जमा हुआ रहता है ध्वान ।

( ५६ )

“हे सुकुमारी ! तुम्हें इसलिये मैं देता हूँ यही सलाह ;  
विना विचारे ही कर लो तुम किसी देव से आज विवाह ।  
सुभ-जैसा हित करनेवाला और मिटानेवाला कष्ट—  
तीन जन्म में भी तो तुमको नहीं मिलेगा, है यह स्पष्ट ।

( ६० )

“देखो महा प्रभाव सुरों का और बात यह वही कमाल—  
जिसके बल से वन अदृश्य मैं यहाँ आ गया हूँ इस काल ।  
सच कहता हूँ, सुनो, तुम्हारा सभी भौंति इसमें कल्याण ;  
वर जो किसी देव को भैमी ! मेरी नम्र चिनय को मान !”

( ६१ )

निज प्रतिकूल गिरा सुन नल की वमयंती कर कोप महान—  
लगी दूत को ऐसा कहने—“हे सुर-धावन ! बुद्धि-निधान !  
मैं साधारण एक मानवी, मेरा उनके साथ विवाह !  
सोच-समझकर कहो महाशय ! हो सकता है कैसे चाह !

( ६२ )

“आप लोकपालों से जाकर कहना मेरा नम्र प्रणाम ;  
वे सब मेरे पिता-तुल्य हैं, मैं न करूँगी ऐसा काम ।  
देवलोक में ही देवों के संभव है होती यह रीति ;  
स्वयं ❀ पिता होकर करते हैं निज पुत्री से अनुचित प्रीति ।

( ६३ )

“वीर † से न तन यही सुभग वर मेरा देखा गया सुजान !  
पिता और आता को इसका संभव है कि नहीं है ज्ञान ।

❀ ब्रह्मा और सरस्वती की एक ऐसी ही कथा प्रचलित है । † हे सुजान ! ( चतुर दूत ! ) वीरसेन-तनय ( नल ) ही मेरा सुभग वर

किंतु आप सुर-दूत, इसलिये सभी तरह हैं आप समर्थ ;  
औरों का साहस होता, तो हो जाता वह बिलकुल व्यर्थ ।”

( ६४ )

मान उसे निज में अनुरक्ता, नल आनंदित हुए महान ;  
और लगे कहने जब उनको दूतपने का आया ध्यान ।  
“मरनेवाले मानव से क्यों करती हो तुम यों अनुराग ?  
जिसके कारण होता तुमसे अजर-अमर देवों का त्याग ।

( ६५ )

“कहाँ देवपति और कहीं नल, है उनका उसका क्या साथ ?  
कोमल कंठ तुम्हारे में क्या शोभा देगा उसका हाथ ?  
स्वर्ग-लोक का स्वामी सुरपति, नल है एक भूप सामान्य ;  
इस भूमंडल पर ही उससे कई श्रेष्ठ हैं नृप अन्यान्य ।

( ६६ )

“कीर्ति, शक्ति में और रूप में उनके सदृश नहीं नल भूप ,  
उनके सम्मुख क्या गिनती है, क्या है उसका और स्वरूप ?  
रवि दीपक का-सा है अंतर इंद्र और नल में छवि-नोह !  
हटा दीभिपु अपने मन से वचा-खुचा अब उसका स्नेह ।

( ६७ )

“दिवपालों के सम्मुख क्या है वेचारे नल की लघु शक्ति !  
तुमने भी हे भुवन-मोहिनी ! अच्छे में की है अनुरक्ति !  
घर की रहीं न घाट की, तुम पर क्या यह धुन है हुई सवार !  
आल तुम्हारा नारी-हठ ही तुम्हें डुबा देगा मक्कधार ।

---

( सुंदर पति ) देखा गया ( है ) । दूसरा अर्थ—हे चतुर दूत ! यही मेरा सुंदर शरीर ( जिसे आप वेधक देख रहे हैं ) आल तक किसी भी वीर से नहीं देखा गया है, और मेरे माना-पिता को भी इसका पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है ।

( ६८ )

“काम करो तो करो सोचकर, पर यह क्या करत अन्याय ?  
जीवन-सुख को जात मारना कहो कहाँ का है यह न्याय ।  
मुनिजन भी ताका करते हैं दिव में जाने को दिन-रात ;  
उसके हित तुम क्यों ना करतीं, यह न बुद्धिमानो की बात ।

( ६९ )

“स्वर्ग-प्राप्ति-हित तप करते हैं कष्ट अनेक उठाकर लोग—  
नहीं तदपि अधिकारी होते उसको कभी न सकते भोग ।  
धनायास ही और अयाचित मिलता है वह तुमको आज ;  
क्यों तुम उसको ठुकराती हो, क्यों तजती हो उसका राज ?

( ७० )

“मिला सुअवसर है जो तुमको, उसे न जाने दो इस काल ;  
सोच-समझकर काम करो तुम, चतुरों की-सी खेलो चाल ।  
क्यों न उसे ही वर लेती हो जो सदैव रहता निष्काम ;  
और तुम्हें जो कर सकता है एक अनश्वर छवि-गुण-धाम ?”

( ७१ )

“दूत महोदय ! इस प्रकार मत तर्क-वितर्क धीजिए आप ;  
इन बातों का करना तो क्या सुनना भी है मुझको पाप ।  
विप से भरे वचन कर सकते हृदय-बीच मेरे कुछ घाव ;  
किंतु डाल सकते न कभी भी मुझ पर अपना महा प्रभाव ।

( ७२ )

“सुर-महिमा पर मोहित होकर छोड़ूंगी मैं नहीं स्वधर्म ;  
नारी का अक्षय-रत्नक है केवल उसका सतीत्व-धर्म ।  
नहीं मुझे इंद्रायणी बनना, नहीं स्वर्ग-सुख की भी चाह ;  
और देवताओं से भी है करना मुझको नहीं विवाह ।



( ७३ )

“वृथा प्रलोभन दे-देकर तुम देवों का भय दिखलाकर—  
मुझे न विचलित कर सकते हो भूठी बातें सिखलाकर ।  
आर्य-कुमारी की होती है सदा प्रतिज्ञा अटल, अचल ;  
प्राण त्याग देती, पर प्राण को सती न सकती कभी बदल ।

( ७४ )

“धर्म-हेतु सुख को तन लूँगी, किंतु सौख्य के लिये न धर्म ;  
नहीं स्वर्ग में धर्म रहेगा, वहाँ मिलेगा वस सुख-कर्म ।  
जहाँ धर्म, सुख दोनों रहते, वहाँ रहूँगी मैं दिन-रात,  
मानूँगी न किसी का कहना, रक्खूँगी मैं अपनी बात ।

( ७५ )

“त्रिभुवन-वैभव को करती हूँ सतीपने पर न्यौछावर ;  
और वारती हूँ देवों को मैं जीवन-जीवन ऊपर ।  
नारी-धर्म-महत्ता तुमको छव तक कुछ भी दुई न ज्ञात,  
इससे ऐसी बात बनाकर करते हो अनुरोध बलात ।

( ७६ )

“आप निवेदन यही कीजिए पूज्य सुरो से सहित प्रणाम ;  
नैपथ्य के अतिरिक्त किसी को वह न बरेगी हे गुण-धाम !  
सुर-भाया से जो न मिल सके वे मेरे प्राणों के साथ,  
तो मैं प्राण-त्याग कर दूँगी, लूँगी कभी न सुर को साथ ।”

( ७७ )

“हे भोजी भैमी ! मत करना कभी भूलकर ऐसी भूल ;  
फिस्ती तरह भी ठीक नहीं है देवों से होना प्रतिकूल ।  
तुमको छुटकारा न मिलेगा प्राण-विसर्जन के भी साथ,  
माने के पीछे वे तुम पर साफ करेंगे अपना हाथ ।

( ७८ )

“सबके प्राण प्रथम रहते हैं अंतरिक्ष में जा कुछ काल ;  
जिसका स्वामी वही तुम्हारा इच्छुक है निर्जन्म-भूपाल ।  
वह कैसे छोड़ेगा तुमको, बतलाओ मुझको छवि-नेह ।  
वहाँ तुम्हें करना ही होगा किसी तरह से उससे न्नेह ।

( ७९ )

“पावक में जो जल जाओगी, तो होगी बस रूपा विशेष—  
अग्निदेव पर, शीघ्र तुम्हारा हो जावेगा जो प्राणेश ।  
जल में डूब मरोगी, तो फिर वहाँ चर्या है जल का नाथ ;  
तुम्हें अवश्य पड़ेगा देना सखी तरह से उसका साथ ।

( ८० )

“भैमी ! जो तुम किसी युक्ति से इनसे बच भी गई निदान ;  
तो दुस्तर है यम से बचना जहाँ अवश्य जायेंगे प्राण ।  
जो जीवित रह गई, न तब भी इच्छा होगी कभी प्रपूर्ण ;  
दाज विन्न-बाधाएँ वे सुर रहने देंगे तमे अपूर्ण ।

( ८१ )

“नल में इतनी शक्ति कहाँ है, कर विरोध जो उनके साथ—  
कर सफता है ग्रहण तुम्हारा असल कमल-मम कोमल हाथ ।  
इससे माना मेरा कहना, मनुज-प्रेम का कर दो त्याग ;  
और करो उत्पन्न चित्त में किसी देव से तुम अनुराग ।”

( ८२ )

बसने कहा कपोलों को कर निज नीरज-लोचन-जल-सिक्त—  
“और किसी को मैं न वरूँगी निपधराज नल के अतिरिक्त ।  
मत बढ़ाइए बात महाशय ! नहीं दूत का यह कर्तव्य ;  
आप यहाँ से चले जाइए इतना ही मेरा वक्तव्य ।”

( ८३ )

इतना कहकर शीघ्र हो गई दमयंती चेतनता-हीन ;  
जीवन-जीवन छ से च्युत होकर थी वह मानो जीवन-हीण ।  
ऐसी शोभा छिटकाता था उसका स्वेद-विदु-युत भाव ;  
मानो अर्ध चंद्र पर स्थित थी गज-मुक्तावलि एक विशाल ।

( ८४ )

उसको ऐसे देख मूर्च्छिता होकर नल्ल ने अंतर्धान—  
स्वार्थ-वश्य देवों के सम्मुख शीघ्र कर दिया फिर प्रस्थान ।  
पहुँच वहाँ सब हाल कह दिया, जिसको सुनकर वे दिव-धाम—  
चले गए आशिष दे करके, लेकर नल्ल का नम्र प्रणाम ।

( ८५ )

मूर्च्छा-गत जब भीम-नंदिनी को कुछ होने लगा प्रबोध—  
हुआ उसे तंद्रा-वस्था की स्वप्न-दशा में तब यह बोध ।  
दूत-रूप बनकर आए थे मेरे प्रियतम, प्राणाधार ;  
सुंदर हंस-कथित वर्णन भी प्रकट कर रहा यही विचार—

( ८६ )

“मंजु-मदन-मद-मर्दनकारक, त्रिभुवन-शोभा के भांडार—  
ये ही मेरे प्राणनाथ थे रूप-राशि, गुण-पारावार ।  
वे अदृश्य अति शीघ्र हो गए, मुझे यही है केवल खेद—  
उन्हें नहीं तो कहना पड़ता मेरे आग्रह से सब भेद ।

( ८७ )

“वैठी-वैठी देख रही थी या मैं कोई स्वप्न विचित्र ;  
अथवा आल सामने मेरे प्रकट हो गए पुण्य पवित्र ।  
या यह कोई सुर-माया थी, अथवा थी यह सच्ची बात ।”  
ऐसे ही विचार दमयंती करती रहती थी दिन-रात ।

( ८८ )

लिसका शोभागार और अति-वैभव-शाला ;  
 सुखद स्वयंवर श्रेष्ठ शीघ्र है होनेवाला ।  
 प्रियत्वस नल को जहाँ हूँदने वह आवेगी ;  
 अपनी नख-शिख ॐ कांति और फिर दिखलावेगी ।




---

\* किंतु वर्मान शिख-नख नहीं दोगा, क्योंकि वह देना नहीं थी, मानवी दे।  
 नख-शिख-वर्मान देवता का होता है, और शिख-नख-वर्मान मनुष्यों का ।

## सातवाँ सर्ग

( १ )

राजद्वार-समीप मनोहर बना हुआ था मंडप एक ;  
बड़े हुए थे जिसमें मंजुल मणि-मुक्ता-भाणिक्य अनेक ।  
सोने के खभे थे इसके, चाँदी का था कोट विगाल ;  
भीम-विभव को देख देखकर चकित हो रहे थे भूपाल ।

( २ )

पुष्प दलों से सजे हुए थे रगभूमि के चारो द्वार ;  
नृग-भार को जो सहते थे होकर महा सुगंधाघार ।  
धीर, वीर, गंभीर, अनुभवी और श्रेष्ठ क्षत्रिय-कुल-दीप—  
शुभ-स्वागत करते थे उनका, जो आते थे वहाँ महीप ।

( ३ )

सजे - सजाए थे सोने के यहाँ सैकड़ों सिंहासन ;  
बिछे हुए थे इन पर मंजुल मखमल के कोमल आसन ।  
लिन पर बैठे हुए भूप थे देश-देश से आ-आकर ;  
उनके पीछे खड़े हुए थे सेवक जन आज्ञा पाकर ।

( ४ )

हसी सभा-मंडप में स्थित थे नल भी होकर धृति विह्वल ;  
वही कठिनता से जाता था चिंता में उनका पल-पल ।  
क्योंकि उन्हीं के निकट उपस्थित थे वे भी चिंतित निर्वर ;  
था भैमी के पास लिन्होने भेजा उनको धावन कर ।

( ५ )

पारावारों में पय-सागर, शैलों में कैलास विगाल ;  
 सरोवरों में मंजुल मानव, ज्योमचरों में मंजु मराज ।  
 सुनिराजों में चतुरानन-सुतल, ऋपिराजों में वेदव्यास ;  
 दिव्य दाहनों में हरि-दाहना, तत्त्वों में धृतिमान प्रकाश ।

( ६ )

अवतारों में श्रीधनुन्दन, रामः यादवों में बलधाम ,  
 भूदेवों में गुरु<sup>x</sup>, देवों में इंद्र, चन्द्रियों में श्रीराम—  
 और सभी ऋतुओं में जैसे सुन्दर लगता है ऋतुराज—  
 वैसे ही सब राजाओं में शोभित थे बल भी नृपराज ।

( ७ )

जिनके महा रूप को सारे देख-देख घबराते थे ,  
 निज शोभा के हेतु और वे व्यर्थ न गाल बजाते थे ।  
 चारुधार निरखकर उनकी फितु प्रशंसा करते थे ;  
 और भावनाएँ भी मन में कई तरह की भरते थे ।

( ८ )

“बल की देह-दीप्ति है कैसी, कैसा है मुख-तेज महान ,  
 कैसे हैं भुजदंड मनोहर, अति विशाल, दृढ़, बल की खान !  
 कैसी सुन्दर हैं जंघाएँ, गौरवर्याँ कैसा उज्ज्वल ;  
 कैसा उन्नत है ललाट यह, और वज्र-मम वलस्थल !!

( ९ )

“इनका रूप सलोना होकर, क्यों है फिर माधुर्य-निधान ?  
 महा शान्ति यह क्यों देता है धारण करके तेज महान ?  
 सुधा-सदृश अति मधुर वीचि को महा लवण्यता-पारावार—  
 बहा रहा है कैसे, हमको यही एक आश्चर्य अपार ।

\* नारद मुनि । † गरुड । ‡ बलराम । × बृहस्पति ।

( १० )

“इनके रहते हुए भीसजा नहीं करेगी हमें वरण्य ;  
हे जगदीश ! आप ही रचक, लें हम किसकी आज शरण्य ?  
यही आप वरदान दीजिए, पूर्ण कीजिए यह आशा ;  
इस विवाह-रूपी चौसर में पढ़े हमारा चित्त पासा ।”

( ११ )

वहाँ सभी भूपति करते थे इस प्रकार सुविचार अनेक ;  
अभिलाषा उठती थी उनके और एक से बढ़कर एक ।  
किंतु चित्त में था नैपथ के नहीं हर्ष या कुछ संताप ;  
शांत - भाव से निज आसन पर बने हुए थे वे सुपचाप ।

( १२ )

सायलिये कुछ सखीजनों को, थीं जो सुंदरल चतुर विशेष—  
शुभ मुहूर्त में दमयंती ने रंगभूमि में किया प्रवेश ।  
बड़े ध्यान से देख-देखकर उसकी चारु अचंचल चाल—  
सोच रहे थे यही चित्त में बैठे-बैठे सब नृपाल—

( १३ )

“गिरा-हंस को, ऐरावत को है इसने ही सिखजाया ;  
इसके सदृश तभी तो उनको मंद गमन करना घापा ।  
किंतु शिक्षिका की वे समता नहीं ध्यान भी कर सकते ;  
मंद-मंद चलकर भी मन को नहीं इस तरह हर सकते ।

( १४ )

“जो हर भी लें किली तरह से, तो वे मुँह की खावेंगे ;  
और भीमजा के-से यश को नहीं कभी भी पावेंगे ।

■ हिंदी में पुल्लिंग विशेषण का त्रोल्लिंग विशेष्य के साथ भी उपयोग होता है ।

जोड़ उसके पीछे पड़ करके आगे भी बढ़ जाता है—  
पद-स्पर्श भू पर सित होकर काळे चिह्न बनाता है ।

( १५ )

“अमला कमला-सी होकर यह क्यों न महा चपला इस काल—  
वाणी की समता पाकर भी क्यों न दीखती यह वाचाल ?  
नल राजा को स्वपति बनाकर हर सकती थी रति निज शोक,  
किंतु देखकर इसको† उससे छोड़ा गया नहीं सुरलोक ।”

( १६ )

कई कल्पनाएँ करते थे इसी तरह भूपित भूपाल,  
मंत्र-मुग्ध-सम देख रहे थे दमयंती को वे उस काल ।  
इसका कारण हो सकता था उसका शोभा-पारावार ;  
जिसमें अब तैरा जाता है पाने को बस परबी पार ।

( १७ )

शोभन कुसुम-रंग की साढी भैमी-तन पर थी शोभित,  
हरी किनार लगी थी जिस पर, करती थी जो मन मोहित ।  
किया गया था काम ज़री का बड़ी निपुणता से उस पर ;  
वने हुए थे बीच-बीच में फूल मोतियों के सुंदर ।

( १८ )

साढी से कुछ ढका हुआ था भैमी भूपित भाल विशाल ;  
जो अतीव सुखदायिनि-शोभा प्रकट कर रहा था उस काल ।

\* दमयंती जहाँ पाद-प्रहार करती थी, उसी स्थान पर मारे आकर बैठ जाते थे । क्योंकि उसके चरण-कमलों में ऐसी अपूर्व सुगंध थी, जो स्पर्श करने-वाली वस्तु को भी अतीव सुवासित बना देती थी । उसका सुगंध उसके पीछे पड़कर भी भूमि पर श्वेत-चिह्न ( यश का रंग श्वेत होता है ) नहीं बनाता था, किंतु कृष्ण ; और वह पीछे था, तो भी आगे रहता था । † भैमी को ।



कज्जल-से काले केशों पर होता था यों ज्ञात दुकूल—  
पडे हुए थे भृंगावलि पर नवगुलाव के मानो फूल ।

( १६ )

दमयंती के सुभग गीश से श्यामज, कुंचित, कांति-निधान—  
अलकावलियाँ लटक-लटककर लगती थीं ऐसी छवि खान—  
मानो मुख-पूर्वोद्भूति से होकर के तम भीत महान—  
कटि से नीचे डतर रहा था कहीं वचाने अपने प्राण ।

( २० )

भैमी-वदन बनाकर विधि ने एक बात ऐसी की थी—  
जिससे साथ अभावस्या के सदा पूर्णिमा रहती थी ।  
और † अभावस्या होती थी वहाँ पौर्णमासी पश्चात ;  
पूर्ण चंद्र ने दीख कुहू ‡ में कर दी मूठ शास्त्र की बात ।

( २१ )

मंजुल माँग कृष्ण केशों में कैसी शोभा पाती थी—  
सरस्वती × अपने को मानो यमुना बीच बहाती थी ।  
या था शैवालों पर मंजुल सुकुल कमल-रेखा-प्रसरण ;  
अथवा उरगी-युगल-दलों में वह सीमा थी वशीकरण ।

( २२ )

कृष्ण मेघमाला में विद्युत्, या थी बकावली अविशाल ;  
सूर्य-सुता-शैवाल-जाल में था ये रेखा-वद्ध मराल ।

---

\* वरु, साडी । † एक ही मास का हिसाब लगाया जाय, तो पहले अभावस्या और पीछे पूर्णिमा होती है । किंतु यहाँ पर पूर्णिमा पहले (ग्रह) और अभावस्या पीछे (केशकलाप) । दूसरे यहाँ पर अभावस्या में ही पूर्ण चंद्र दिखलाई देता है । ‡ अभावस्या । × सरस्वती नदी के जल का रंग रक्त माना जाता है । दमयंती की माँग में मौभाग्य-विह्व रौली या सिंदूर की सूदन रेखा थी जो पुष्प-पराग-युक्त भी हो चुकी थी ।

या था विद्युत्प्रदनामृत-हित वह द्रष्ट राहु-रसना-प्रस्तार ;  
अथवा तिमिर-लोक में धृति का राजमार्ग था शोभागार ।

( २३ )

शिरोरुहों में गुथे हुए थे कहीं-कहीं सिल पुष्प ललाम ;  
फणीश्वरों की मणियों के सम जगते थे जो अति अमिराम ।  
अथवा तिल-समूह में संकुल पड़े हुए थे सितता-धाम ;  
या हीरे ही जड़े हुए थे अति मंजुल मणियों में श्याम ।

( २४ )

शीतल, सुरभित, तैल-सुचिह्न कच थे ऐसे शोभा-स्नान—  
है मकरद-मग्न मधुपावलि होती जैसे काति-निधान ।  
कुङ्कुळ गोलाकार रूप से ढका हुआ था इनसे भाल ;  
श्यामल मेघाच्छन्न अर्द्ध-विधु-भाग-दृश था जो उस काल ।

( २५ )

या थी भागीरथी-तीर पर पिकावली पाने को शान्ति ;  
अथवा अर्ध चीर-सागर में थी यमुना-जल की कल कांति ।  
सुंदर स्वर्ण-पट्टिका पर या लिखा हुआ था महा विचित्र—  
कामदेव के कर-कमलों से जन-मन-मोहन मंत्र पवित्र ।

( २६ )

या यों वीचों-बीच रक्त-मणि-भूषण इनसे मिला हुआ—  
मानो कज्जल-राशि-मध्य में लाल कमल हो खिला हुआ ।  
जिसकी प्रभा भाल को कुङ्कुळ रक्त वर्णमय करती थी ;  
विधु पर मंगल-विलुब्धित छवि-सम जो जन-मन को हरती थी ।

\* दमयंती, का विशाल भूषित भाल गंगा तट के समान पवित्र और चौडा-  
लंबा था ।

( २० )

मृकुटि-युग्म की देख कुटिलता काम-कृपाण-म्यान का मान—  
 मन्मथ-धनु के सदृश आप ही होता था उस पर बलिदान ।  
 ठीक बीच में पूर्ण इंद्रु-सम चंदन-विंदु-गंध प्रत्यात—  
 झुंघर-उधर से खींच रहा था उरगी-युग को निकट बलात ।

( २८ )

अथवा लोचन-पद्म-गंध पर मृंग-चूंद बन अंध श्रमद—  
 इंद्र-सहित फँस रूप-फंद में पान कर रहा था मकरंद ।  
 या कज्जल की दो रेखाएँ थीं विधि-निर्मित ये छवि-खान ;  
 जिनके कारण नहीं वदन पर लगता था कुदृष्टि का घाण ।

( २६ )

भैमी-नेत्र देख, दन व्रीहिस, मृगियों ने वनवास लिया ;  
 चाह चकोरों ने मरने को अंगारों का भोज्य किया ।  
 मीनें और नील नीरज भी दूब गए शीतल जल में ;  
 और मंजु खंजन वन लज्जित चले गए नभ में पल में ।

( ३० )

स्मर-सायक से उन नयनों में कल कज्जल था लगा दिया ,  
 मानो अति वेधक करने को विप-लेपन था गया किया ।  
 था थी लज्जा-सर-संपुट में सज्जिल-सर्पिणी मदसाती ;  
 अथवा कृष्ण-विंदु की छवि थी पलकों के ऊपर शाती ।

( ३१ )

कोर-नासिका, तिल-प्रसून का था जो कीर्ति समूह महान ;  
 उसकी वनी नासिका भैमी-रुधिर-नासिका शोभा-खान ।  
 जगतेछ ये गोले-से कैसे माखन के गोले भी जोल—  
 यही सिद्ध करते थे उसके गोल-गोल धनमोल कपोल ।

---

\* रावों के हृदय में ।

( ३२ )

अति सुंदर दोनो कानों में जो कहलाते शोभागार—  
 एक-एक था भ्रूषण जिसमें जड़े हुए थे रत्न अपार ।  
 कर्णपूर-प्रतिबिंब-युक्त था कांत कपोल-युग्म उस काल ;  
 कभी श्वेत था, कभी हरा था, कभी-कभी हो जाता लाल ।

( ३३ )

विबाधर सित-दंत-दीप्ति से दीप्तिमान अति सुंदरतर—  
 एक विचित्र बात करते थे सुधा-माधुरी-धर होकर ।  
 अधिकाधिक निज वर्णन से वे मिष्ट लेखनी को करके—  
 उसका ईश्वर बना देते थे मीठा रस उसमें भर के ।

( ३४ )

फिर वर्णन-शैली भी होती उसके द्वारा मिष्ट लजाम ;  
 और अंत में इन बातों का ठीक यही होता परिणाम ।  
 जो कवि रूकता नहीं शीघ्रतम वर्णन पर कुछ डाल प्रकाश—  
 तो वह सुधा-सिंधु हो जाता कैला भू पर महा मिठास ।

( ३५ )

इससे रदपट ॐ वर्णन को मैं करता हूँ बस यहाँ समाप्त ;  
 क्योंकि लेखनी रसनाएँ हैं छुलती होकर मधुता-ज्याप्त ।  
 चाद चिबुक थी, अथवा था वह चंद्रानन का अंतिम भाग ;  
 जो उत्पन्न हुआ था करने सुंदरता-सीमा-मद-त्याग ।

( ३६ )

इसका कूप धनूप रूप को इसके अंदर भरता था ;  
 महा कांति की चापी को भी और विनिंदित करता था ।  
 कमल-कली पर भ्रमरी के सम इसके ऊपर तिल सुंदर—  
 लगता था यों, फिसल पड़े ज्यों अधराऽमृत-हित हरि आकर ।

( ३७ )

चीरोदधि-उत्पन्न कंघु था भैमी के कल कंठ समान ;  
जिस देखकर मिट जाता था कलरव-गल का गर्व महान ।  
धीया-सदृश कंठ के रव को सुन करके कलकंठ बजात—  
कृष्ण हो गई कुहू छ-सदृश थी, कुहू-कुहू करके दिन-रात ।

( ३८ )

पालन-शक्ति चक्र-धर होकर भैमि-पयोधर थे हरि-रूप ;  
अलकावलि-चंदन-युत होकर ये वे शंकर महा अनूप ।  
प्रजा-पुष्टि-कर, रक्त-वदन-धर थे वे विधि, उर-नीरज नात ;  
इस प्रकार कुच शोभित थे, ले तीनों ही का रूप बलात ।

( ३९ )

रक्त कंचुकी-युत हो करके करते थे वे महा विकास ;  
अथवा अनुपम छवि देते थे रविकर-दीप्त युगल कैलास ।  
या वे बलित लाल चंदन-युत थे ऐरावत-कुंभ ललाम ।  
अथवा वे कुंकुम से रंजित थे दो श्रीफल शोभा-घाम ।

( ४० )

श्रेष्ठ प्रजापति ने रतिपति की पशुपति-कृत दुर्गति को जान—  
और सृष्टि-उत्पत्ति-नाश को मान महा धपना अपमान—  
खिन मयि-स्वर्ण-घटों में रखला रति-धुति-सहित काम असु-ओज—  
वे ही शोथित † मुद्रावाले थे भैमी के युगल उरोज ।

● अमावस्या के समान । † ब्रह्मा ने मदन-दहन में क्रुद्ध होकर अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना को सुराक्षित रखने के आदिप्राय में कामदेव के ओज को और त्वलाप-विधुरा रति की अलौकिक काति को दो रथ-घटों में रख लिया था, और उन पर अपनी लाल मोहर भो लगादी थी । ये घट ही अब दमयंती के पयोधरों के रूप में प्रकट हुए हैं ।

( ४१ )

जो यह मिथ्या है, तो हूनसे होता था क्यों स्मर उररक्त ?  
 और रम्य रति-द्युति क्यों रहती दमयंती-तनु पर आच्छन्न ?  
 इससे रक्त कुंडलीधारित अथवा ये वे स्मर-कर-हर ;  
 उसी छ जजाट-नेत्र से करते थे अलग को ये तनु-धर ।

( ४२ )

सारे राजाशो के मन में यही हो रहा था आश्चर्य ;  
 स्थूल कुर्चों का भार किस तरह सहता है कटि का सौंदर्य ।  
 जिसे देखकर सब सिंहों ने आज ले लिया है वनवास ;  
 और जनार्दन हो करके वे करते हैं निर्भय जन-नाश ।

( ४३ )

मणि-मुक्तामय रसना-धर्यान रसना कैसे कर सकती ?  
 है समर्थ लेने को रस ना यो न मूकता हर सकती ।  
 परब्रह्म-सम-सूक्ष्म-मध्य की सत्ता को समझाने को—  
 थी वह वस अनुमान कराती, 'कटि है,' यह वतलाने को ।

( ४४ )

भुज मृणाल-युत कर-कमलों में गोभित थी वह 'वर-माजा,  
 जिससे अति कोमल करतल में प्रकट हो गया था छाजा ।  
 चारु चंद्रिका जलना वन, वे हाथों में लक्ष् सुग्यकारी—  
 जाती थी निज इष्टदेव को करने को मालाधारी ।

( ४५ )

मानस-सर-सम रुचिर उदर पर नाभि-भँवर था अति गंभीर ;  
 रोमावलि-शेवाल मुशोभित था उमका ऊपर का तीर ।  
 अति मन-भोजन प्रियली मानो थीं सोपानें गोभा-ग्यान ;  
 दर्शक-मन को अति पटुता से कर देती थीं मग्न निदान ।

\* कान को उत्पन्न करनेवाले दिव । † करपना, कर्मकर्म ।

( ४६ )

भैमी-जंघा-रम्य-युग्म को देख-देख बल खाते थे—  
 रंभा के उलटे रंभा-सम ऊरु-युगल जलाते थे।  
 इंद्र-गर्जद्व विलजित होकर केवल हाथ हिलाता था ;  
 काम-निषंग-युग्म निद्रक बन ऊरु-युग छवि पाता था।

( ४७ )

काम-कांत-कर-कमल-सुमंथित फामधेनु नवनीत पुनीत—  
 और शीरनिधि-जात फेननिधि था जो पावन, घटल-अपीता—  
 ये दोनों लेते थे इनसे चिक्कनता-कोमलता-भार ;  
 और कनक-दंडे भी इनसे होते थे दृढ़ता-घाघार।

( ४८ )

उसके युगल-निर्तंब-विष थे कनक-चक्र-आकार सुपीन ;  
 मानो ये वे काम-भिनिर्मित चक्रवाक दो अचल, नवीन।  
 बहुत गठीली, पुष्ट पिंडलियाँ थीं ऊपर से गोलाकार—  
 जो अनग के वर-निषंग को कर देती थीं लज्जागार।

( ४९ )

चारो गुल्म इ मात करते थे चौम-अंथियों को सुंदर ;  
 वृषण-हीन, स्वर्ण-मूषण-युक्त, रूप-मूल थे वे सुख-कर।  
 रक्त-गौर वे युगल एदियाँ दाडिम को शर्माती थीं ;  
 जिन्हें देखकर कमल-कली भी जली-भुनी बन जाती थी।

( ५० )

रवि-अनुराग-युक्त होने से कांत-कमल थे चरण-समान ;  
 जिनके आगे छवि देती थीं चंपक कलियाँ कांति-निधान।

॥ ऊरु और ऊरु दोनों ही शुद्ध हैं। † अगस्त्यजी से न पिया हुआ।  
 ‡ ट्यूने। इनको रेशम की बुड़ी ( गॉठ ) से उपमा दी जाती है।

पद-नख-प्रभा-प्रभाकर-कर की श्रवण प्रभा-सम थी छविमान ; -  
विभावरी छ-पति-विभा-सदृश थी उन पर भूपण-विभा महान ।

( ५१ )

चंदन-हरिचंदन के दल-सम निर्मल पदतल थे सुविकल ;  
क्योंकि दुखी होते थे पल-पल मलमल पर भी वे चल-चल ।  
सिरस-सुमन के सुभ जाने से उदम व्रण हो जाता था ;  
निरा निराला छाता जिन पर माखन-स्पर्श बनाता था—

( ५२ )

रक्त छलकक-रंजित थे वे, अथवा थे मेहँदी-से लाल ;  
या वे पुष्पाच्छन्न भूमि पर इधर-उधर चलकर उस काल ।  
उसकी कोमलता में भी वे कर्पशता ही की कर भ्रांति—  
वहाँ प्रकट करते थे मानो क्रोध-लालिमा की वे कांति ।

( ५३ )

चंद्रकला-सी ऐसी भैमी किए हुए थी सब शृंगार ;  
और सभी गहने पहने थी, थे जो रम्य-रत्न-आधार ।  
मधुर गंध का स्रोत बहाकर, चार चतुर सखियों के संग—  
धीरे-धीरे चलती थी वह रंगभूमि में सहित उमंग ।

( ५४ )

भीम-सुता यद्यपि करती थी शीघ्र गमन के लिये प्रयास ;  
किंतु एक भी चेष्टा उसकी पहुँची नहीं सफलता पास ।  
मंजुल पदतल रंग-भार से दरे हुए होकर उस काल—  
गज से और हंस से भी तो अधिक मंद चलते थे चल ।

( ५५ )

मेहँदी ने पैरों पर पहकर पन्ड लिए जब उसके हाथ—  
मंजु मुद्रिका का सखियों ने बुदा दिया तब उनसे साथ ।



इससे-नरम उँगलियाँ उसकी सहती थीं माता का भार ;  
जो हलकी होती जाती थी पिता मधुकरों को निज सार ।

( १६ )

चकाचौंध होकर इस छवि को देख सकेंगे कैसे भूप ?  
जाने देतीं पास न उनके इससे सखियाँ उसे अनूप ।  
दीप-शिखा जलती थी जिसका देख धर्मीक तनु-सौंदर्य—  
गिर पड़ती थी चारु चंद्रिका उसके लिये न कुछ आश्चर्य ।

( १७ )

इधर-उधर चलती थीं सखियाँ उसे घेरकर चारो ओर ;  
सुभ न जाय कोमलतम तन पर मनुज-दृष्टि की तीखी कोर ।  
इसके अति अवलोकन से भी दृष्टि-भलिनवा का आभास—  
हो जावेगा कांत-कांति में था उनको यह भी विश्वास ।

( १८ )

थी भैमी तनुधारिणि-गोभा और मृदुलता का अवतार ;  
जलना-जाति-मुकुट-भणि थी वह चौदह लोकों का शृंगार ।  
“रति, रंभा से और रमा से है”, ऐसा कहते थे भूप—  
“दुगुना, तिगुना, आज चौगुना थडो ! सौगुना इसका रूप ।”

( १९ )

संभव है कि अधिक वर्णन से क्या-से-क्या हो जावेगा !  
छाजे तन पर पढ जावेंगे थपयश सिर चढ़ आवेगा ।  
है इस कारण उसका वर्णन यहीं समाप्त किया जाता ;  
क्योंकि दूसरा मार्ग इस समय नहीं दृष्टि में है थाता ।

---

\* उसके कर-फल धरमात्रा का भार महने में भी असमर्थ थे, किंतु वह  
माता माँरों को अपना मकरंद पिला। पलाकर स्वयं हलकी होती जाती थी, अतः  
दमयंती उसे हतने समय तक टठाए रखने में सफल हो सकी थी ।

( ६० )

और एक भय हुआ उपस्थित भैमी-शोभा-पारावार—

नहीं किसी भी तनुधारी को दे सकता है अपना पार ।

ज्ञान-बुद्धि-नौका-द्वत में, जो पार-प्राप्ति-हित करूँ विचार—

तो यह महा घृष्टता है या शीघ्र ह्वयना है मरुधर ।

( ६१ )

इससे जाना चाह रहा हूँ भैमी - छवि - मर्मज्ञ - समीप ;

या जो महा मनोहर मानव और मनुज-पालक-कुल-दीप ।

तक्षप रही थी देख-देखकर दमयंती भी जिसका रूप ;

या ऐसा ही भव्य भूप वह धारण करके रूप अनूप ।

( ६२ )

जिस प्रकार भैमी पाती थी सखियों में शोभा सुंदर—

उसी तरह नल भी भूपों में बने हुए थे रूपाकर ।

नैपथ - रम्य - रूप का सागर बस बढ़ता ही जाता था ;

क्योंकि विदूषण-हीन० पूर्ण विधु उसके सम्मुख आता था ।

( ६३ )

उत्तमांग श्रंगों में जैसे, वृक्षों में जैसे मंदार,

है गजमुक्ता मुक्तायों में, तारों में विधु सुपमागार ।

है कुसुमों में कमल, कमल है कमलों में गंगा का श्रेष्ठ ;

जिस प्रकार माने जाते हैं देवों में नारायण प्रेष्ठ ।

( ६४ )

उसी तरह थे सभी नृपों में नल राजा शोभा पाते ;

और सभा में स्थित होकर भी नहीं रूप से थे माते ।

राजा रूपी उन सिंहों में थे वे दुर्गा-पंचानन† ;

या उनकी ही देख-रेख में राजसभा-सुंदर-ज्ञानन ।

\* दमयंती-वदन । † विह ।

( ६५ )

जैसे सभी सृष्टि में नभ है, नभ में वायु समाता है ;  
 और वायु में गंध, गंध में वशीकरण-बल आता है ।  
 उसी तरह था राजसभा में नल-प्रताप का महा अनल—  
 फैल रहा कोने-कोने में होकर न्यापक प्रतिपल-पल ।

( ६६ )

दहनशील वन देता था वहल्ल भैमी-मन में शांति अपार ;  
 होकर ज्वलनगं गीघ्र करता था अरि-गृह में तरु-तृण-संचार ।  
 नहीं न्यूनता, किंतु सर्वदा वृद्धि उसे देती थी वृष्टि ;  
 उसकी धूम-हीनता से ही होती थी धूमिल तृप-दृष्टि ।

( ६७ )

प्रति अद्भुत गुण एक और था निपघ-देश-स्वामी नल में ;  
 चारु चंद्र-सम होकर भी वे हो जाते थे रवि पल में ।  
 मित्र-मंडली पर वे संतत सुधा-वृष्टि बरसाते थे,  
 और प्रतापानल से घपने अरि का हृदय जलाते थे ।

( ६८ )

दिव-शासन के विना किए भी जगते थे वे इंद्र-समान ;  
 थे वे श्यामल-वर्ण-हीन वन, लक्ष्मीनाथ विष्णु-भगवान ।  
 भ्रूमंडल पर तनुधारी वे कामदेव होकर उरपन्न—  
 करते थे निल सुंदरता सं रति को भी अर्यंत प्रसन्न ।

( ६९ )

ऐसे नल वे उच्च शीश पर रत्न-जडित था मुकुट विशाल ;  
 निकल रहा था रंग-रंग का जिससे धृति-किरणों का जाल ।  
 फैलाता था ऐसी शोभा मुकुट-सहित नल कलित ललाट—  
 दीपावलि के दिन देता है जैसी दृवि शंगा का पाट ।

( ७० )

कलित कपोत कंठ से निर्मल नीलममणि-माला सुंदर—  
 लटक-लटककर दिखलाती थी चटक-मटक पेसी उर पर—  
 मानो गौरी-सिंहराज ने नील - कमल - स्रक् की धारण ;  
 या उर पर अलि-कुल आया था मुख-मकरंद-पान कारण ।

( ७१ )

अति सुखदायक होकर भी वे शिव-नंदी को कष्ट महान—  
 देते थे दिखलाकर अपना कंध युग्म बल-पुष्टि-निधान ।  
 वे आनाजुवाहु होकर भी ये भैमी-वृवि-जित उस काल ;  
 जित हो उनने जीता उसको फैला प्रेम-सूत्र का जाल ।

( ७२ )

पीपल-दल-सम उदर-मध्य में रूप-सुंदरी दरी छ-समान ;  
 भरी हुई रस-रूप-सदृश थी गहरी नामि प्रभा की खान ।  
 संभव है कि इसी के रस का आती थी करने को पान—  
 मंजुल अलि-भावलि रूप से होकर अम से तृपित महान ।

( ७३ )

या थी रोमावली रुचिर यह दूर नामि के चारो ओर ;  
 अथवा उड़ता था शैशव ही होकर कृष्ण धूम घनघोर ।  
 या भैमी-वियोग-दिनकर को शीघ्र भगा देने कर भीत—  
 राहु-चित्र-चित्रित होता था स्मर-दर से नल-वच पुनीत ।

( ७४ )

थी बलराम-सदृश-जघाएँ पुष्ट, बलिष्ठ, विशाल, महान ;  
 जिनके नीचे करभ-युग्म था पद्ममूल होकर छविखान ।  
 नत-नृप-मंजु-मुकुट-मणियों से विल जाने से बनकर कीय—  
 नल के पद-नल अरुण-सूत<sup>†</sup> की अरुण प्रभा से ये न विहीन ।

( ७५ )

ऐसे नल के निकट भीमजा जैसे-जैसे जाती थी—  
 जैसे-जैसे वह निज मन में फूली नहीं समाती थी ।  
 इंद्र, अग्नि, यम, वरुण, दशा कुल्लु और इश्य घतलाती थी ;  
 नल को देख समीप सुरों की छाती भर-भर आती थी ।

( ७६ )

दमयंती को ज्ञात नहीं था होनहार क्या होना है ;  
 किसके सम्मुख पहले उसको अपना रोना रोना है ।  
 देवों की माया को कैसे जाने वह भोली-भाली ;  
 उसकी वनमाता का रक्षक है केवल अब वनमाता ।

( ७७ )

है जो सबकी पार लगाना, भक्त जिसे मन में भाता ;  
 करुणाभाव समाता जिसमें कोपभाव है छय पाता ।  
 ऐसा दीनानाथ-जगत्पति हो जाता जिसका रक्षक—  
 क्या कर लेगा उसका भीषण महा काल भी बन भक्षक ।

( ७८ )

सुयश, सम्मान भारत का बदाया इस कुमारी ने ;  
 दिखाया किस तरह रक्खा पतिव्रत एक नारी ने ।  
 वधुएँ श्रेष्ठ जो ऐसी यहाँ हम आल भी पाते ;  
 हमारे दासता के दिन कभी भी यो नहीं आते ।

## आठवाँ सर्ग

( १ )

निज वैभव से चित्त सभी का हर लेती थी—  
श्रेष्ठ स्वयंवर सभा महा शोभा देती थी  
उसमें सारे भूप ज्ञात होते थे ऐसे—  
चार चित्र के बीच दिखाई देते जैसे ।

( २ )

कोलाहल का, वातचीत का नाम नहीं था,  
हिलने का भी और वहाँ पर काम नहीं था ।  
स्वर्ण-रूप्य-पाषाण-मूर्तियाँ महा मनोहर—  
मानो बैठी हुई वहाँ थीं भूपित्त होकर ।

( ३ )

बड़े ध्यान के साथ निमिष द्यग पर न लगाकर—  
प्रेम-देव को और हृदय के बीच जगाकर ।  
देख रहे थे सभी बड़े उत्साहित होकर—  
निज मन को उस काल हाथ से अपने खोकर ।

( ४ )

स्थित भी थे सब भूप वहाँ निज-निज आसन पर—  
जा भी वे सकते न कहीं थे यद्यपि उठकर—  
चरणों पर वे तदपि भीमजा के गिरते थे—  
और हृदय को जिय हथेली पर फिरते थे ।

( ५ )

लगती थी उसका लाल कमलों की माला—  
 कर-कमलों के बीच इस तरह शोभाशाला—  
 मानो सबके हृदय हाथ में लिए हुए थी—  
 और सभी को वश्य भीमजा किए हुए थी ।

( ६ )

ले सुट्टी में प्राण सभी के वह जाती थी—  
 तो भी वह गुण-गोह उन्हें मन में भाती थी,  
 पर सबको विश्वास यही था महा कष्ट-कर—  
 नहीं वरेगी हमें कभी यह कात्ति मनोहर ।

( ७ )

मैत्री-द्युति को देख साँस लंबी भरते थे—  
 जीते भी थे और प्रेम से वे मरते थे—  
 मन में अपने आप महा लज्जित होते थे ।  
 नल-छवि-ईर्ष्या-सिधु-मध्य मज्जित होते थे ।

( ८ )

सहनशीलता नहीं किसी ने देखी ऐसी—  
 दमयंती में भरी हुई थी अद्भुत जैसी ।  
 कई तरह के भार धैर्य से वह सहती थी—  
 कष्ट उठाकर भी न किसी से कुछ कहती थी ।

( ९ )

था थसल छवि-भार प्रथम ही उस ललना पर—  
 फिर पट-भूपण-भार और था निस पर गुस्तर—  
 तिस पर भी था और गिर रहा मूप-दृष्टि-भर—  
 जाती थी यों दबी हाथ में लकू वह लेकर ।

( १० )

केश-भार को उच्च, पुष्ट, दृढ पावन बनकर—  
 सह सकते थे कठिन कनक-कुच-शिव-सम सुंदर,  
 पर सबको था भला यही आश्चर्य महत्तर—  
 कच-कुच-भार अपार सह रही कैसे कटि वर ।

( ११ )

इसी बात को देख स्वमन में हार रहे थे;  
 निज साहस को सभी भूप धिक्कार रहे थे ।  
 सहता है दिन-रात भार कच-कुच का गुरुतम—  
 भैमी के इस मध्य भाग का साहस अनुपम ।

( १२ )

मन रोचकता-धाम और अभिराम सुपावन—  
 भैमी का घर वेप सभी के था मन-भावन ।  
 उसकी अनुपम छटा, छयीली, निपट निराली—  
 भूपगण-छवि-पय-भुक्त हो रही थी वर व्याली ।

( १३ )

दमयंती को देख पास में नल राजा के—  
 भूप-दृष्टि से मलिन हुई उसकी शोभा के—  
 शुद्ध सुधा को छान-छानकर पान कराने—  
 उस पर उनको और शीघ्र अत्यंत लुभाने—

( १४ )

साड़ी को कुछ लींच रही थी उसके मुख पर ।  
 जो थी उसके साथ चतुर वे सखियाँ सुंदर ।

● दमयंती की शोभा रूपी सर्पिणी आभूषण-प्रति का पय पान करके और  
 भी अधिक दसकर मोहित करनेवाली हो चुका थी ।



जिनका ऐसा कार्य यही बस बतलाता था—  
जयमाला-परिधान-काल मानो थाता था ।

( १५ )

भव्य भाल पर ललित लाल थी महा मनोहर ;  
जो होती थी ज्ञात नृपों को ऐसी रुचिकर—  
मानो मंगल-दान हेतु था अर्ध चंद्र पर—  
मंगल, वसुधा-पुत्र, सुधा पीने को रुचिकर ।

( १६ )

था मुक्ताफल एक नासिका-नोचे उज्ज्वल ;  
अथवा था वह एक मनोहर कल्पवृक्ष-फल ।  
अधरामृत के महासिंधु पर बहनेवाली—  
या होगी वह सुधा-विंदु ही एक निराली ।

( १७ )

वक्षस्थल पर मंजु मत्तंगल मौक्तिक माला—  
दिसा रही थी बार-बार ऐसा उजियाला—  
मानो तारक-वृंद श्यामकर गेह गगन को—  
या उर पर धृतिमान मानकर चंद्र चदन को ।

( १८ )

मुख-अरविंद-सुगंध-सुग्ध थे या वे मधुकर ;  
जो पराग से तथा हो गए थे उज्ज्वलतर ।  
चकने से मोती न मंजु हिलने थे उर पर ;  
उदते थे मधु-हेतु मधुप ही मानो धूसर ।

( १९ )

कथं नीलमणि-प्रखर-भभा-प्रतिचिब मनोहर—  
होता था अस्तव्य ज्ञात यों वर कपोक पर—

मानो पयनिधि-मध्य करवटें विष्णु ले रहे ;  
अथवा विचलित मेघ चंद्र पर छटा दे रहे ।

( २० )

ये भैमी-भुजबंध मंद रवि-छवि को करते ;  
रजनो में भी कमल-कण्ठ का ये वे हरते ।  
तन-तरु-शाखा-रम्य-युग्म के या वे फल थे ,  
या सुवह्नि पर श्रोत्र-विंदु करते मल-भल थे ।

( २१ )

श्यामल मणिके वलय स्पर्शा संपुट-युत सुंदर—  
दिखा रहे थे छटा हृत्प तरह कर-कमलों पर—  
मानोऽप्यति कुल-पंक्ति देख कुकुलित सरोजवर—  
शृदु-मृगाल पर लिपट रही थी लोभित होकर ।

( २२ )

पीत, हरित, अवदात, नील, श्यामल, अति लोहित,  
पद-मूपय्य इस तरह कर रहे थे मन मोहित—  
मानो भैमी हेतु नवग्रह आकर लड़ते ,  
पति होने के लिये सभी थे पैरों पड़ते ।

( २३ )

वह थी नदी अमृत्य चारु जयमाला पावन,  
कर-कमलों में किंतु त्रिलोकी-कीर्ति सुधावन ।  
धारण करके सुमन रूप का अति शोभित थी ;  
सुननल मन को और कर रहा अति मोहित था ।

( २४ )

जब वह रमणी-मणी निपथ-पति निकट आ गई,  
तब उस पर कुञ्ज और त्रपा-युत कांति छा गई ।

\* हाथों में जयमाला होने क कारण वे मुग्ध बंधे हुए थे—बद थे ।

सखीजननों के बीच सोहती थी वह ऐसे—  
मंजुल-मणिगण-मध्य विष्णु की कौस्तुभ जैसे ।

( २५ )

उसकी चंचल, चारु, दृष्टि बस देख रही थी—  
उसी वस्तु को, उसे प्राण से जो प्यारी थी ।  
आगे विदुषी सखी एक उसके आती थी,  
परिचय देती हुई नृपों का जो जाती थी ।

( २६ )

किंतु किसी की ओर तनिक भी नेत्र उठाकर—  
देखा उसने नहीं उच्च कर शीश मनोहर ।  
सुनते ही नल-नाम शीघ्र फिर रंगभूमि पर—  
खड़ी रह गई स्वयं मोद को वह मन में भर ।

( २७ )

निज नेत्रों को बार-बार मूढे बतलाकर—  
देखे उसने वहाँ पाँच तुल्याकृति नर वर ।  
उनके भूषण वस्त्र एक हो से थे सारे ;  
मानो नल के पाँच रूप ही थे वे प्यारे ।

( २८ )

की उसने यह विनय “पास अब किसके जाऊँ ?  
किसको हे भगवान ! विजय-माला पहनाऊँ ?  
इनमें इसके योग्य कौन है, हे वनमाली !  
इससे किसका कंठ बनाऊँ शोभाशाली ?

( २९ )

“है यह हे जगदीश ! स्वप्न क्या एक भयंकर ?  
या है मेरा दैव हो गया क्रोधित मुझ पर ।

अथवा मेरा आज सो गया भाग्य-विधाता,  
या है यह वह दृश्य ध्यान में जो न समाता ।

( ३० )

“हे कल्याणकर ! कहो, कुमारी क्या कर सकती ?  
दीना, अथवा, भवा दुःख कैसे हर सकती ?  
लीला करते सदा क्योंकि तुम लीलामय हो,  
श्याम ! राम ! अभिराम, आपकी जय हो, जय हो ।

( ३१ )

“प्रणतपाल ! गोपाल ! आप हैं कल्याण-सागर !  
नष्ट कीजिए महा कष्ट यह दृश्य हटाकर ।  
हे माला ! पहचान शीघ्र तू ही भियतम को ;  
बतलाती है क्यों न आज तू नल अलुपम को ?

( ३२ )

“हे मराल ! अब कहाँ छिप गया है तू जाकर ?  
मेरे पति को मुझे शीघ्र बतला जा आकर ।  
गुण-स्वरूप का भेद जानता तू ही सारा ;  
तूने ही रह साथ, नाथ को खूब निहारा ।

( ३३ )

“‘आद्वितीय नल’—यही कहा था मुझसे तूने ;  
नहीं एक, दो, तीन यहाँ बाईं से दूने ।  
अहो ! कहो हे तात ! बात क्या भूठी तेरी ;  
आ करके यह देख दशा तो तू अब मेरी ।

( ३४ )

“कुछ भी नहीं ऊपाय हाथ ! देता दिखलाई ;  
है मानस पर आज कष्ट की काई छाई ।

पुण्य-सत्य पर पडा पाप का पाला कैसे ?  
भाग्य-भवन पर और डल गया ताला कैसे ?

( ३५ )

“मेरे पति को ध्यान बताता मुझे न कोई ?  
किसने मेरे लिये खेला वह विप की बोई ?  
मेरा रक्षक नहीं दिया दिखलाई अब तक ?  
खडी रहूँ मैं हाथ ! यहाँ पर यों ही कब तक ?

( ३६ )

“मानव होते सभी एक-से कभी नहीं हैं ;  
बीज एक है, वृक्ष एक-से सभी नहीं हैं ।  
बतलाए हैं कई शास्त्र ने उनमें अंतर ,  
किंतु ज़रा भी नहीं यहाँ तो भेद परस्पर ।

( ३७ )

“किसके गल में धाल मजु साबा को ढालूँ ?  
ऐसी स्थिति में अहो ! किस तरह प्रण को पालूँ ?  
वृद्धजनों से सुने हुए सुर-चिह्न जानती ,  
बीसो बिसवा और उन्हें मैं रुत्य मानती ।

( ३८ )

“फिन्तु एक भी नहीं यहाँ मिलता है उनमें ,  
ये हैं सभी समान वेश, वय और प्रणुण में ।  
यह निर्जर-करत, देव-भाया है ऐसी ,  
नहीं धाल तक सुनी और देखी है जैसी ।”

( ३९ )

इतना मन में मोच हृदय में कर प्रणाम को—  
वह यों कहने लगी टसी सुर-वृद्ध-वाम को—

“हे नायों के नाथ ! आपके हाथ सभी कुछ ;  
कर सकने हैं थाप कभी क्या, और कभी कुछ ।

( ४० )

“सीसा में हो गई, हो गई हूँ मति-हीना ;  
जीवन-धन के विना व्यर्थ है मेरा जीना ।  
कर वरुणा इसलिये कष्ट को मिटा दीजिए ;  
अवसर को पहचान नीति की रीति कीजिए ।

( ४१ )

“दिव-मराल क्या तुच्छ वकी से मिल सकते हैं ?  
अमरवेल पर अमर वृक्ष क्या खिल सकते हैं ?  
दुग्ध-पालिता को न चाहते सुधा-पीत जो ;  
मत्स्यां को क्यों ग्रहण करेंगे मृत्यु-जीत जो ?

( ४२ )

“विष्णु-वदन-उरपन्न महीसुर चढनीय हैं ,  
उनके भी तो देव सदा से पूजनीय हैं ।  
अश्रिय-जाता सुता काम की उनके कैले ?  
उसके प्रेमी कभी न होते निर्जर ऐसे ।

( ४३ )

“मैं अथला हूँ और सुता के तुल्य तुम्हारी ;  
उससे यह अनरीति आपने भली विचारी !  
है अयोग्य यह कार्य, सुरो ! हे जन-भय-हारी !  
कहाँ थाप-मे देव, कहाँ मैं तुच्छ कुमारी !

( ४४ )

“जगत-जनक हैं आप सदा से, और रहेंगे ;  
फिर कन्या के हेतु दुःख को क्यों न सहेंगे ?

रखने उसकी लाज छद्म को दूर करेंगे ।  
उसका भीषण कष्ट कृपा कर क्यों न हर्षेंगे ?

( ४५ )

“सुनकर स्रग के वचन जिन्हें परिवरण किया था;  
जिनको निज सवस्व उसी क्षण सौंप दिया था ।  
कैसे सकती छोड़ उन्हें अब मैं कुल-श्रवला ;  
होती है जो सदा प्राण-पण से प्रण-प्रबला ।

( ४६ )

“है विरुद्ध यह बात सर्वथा सती-धर्म के ;  
क्यों मैं कलुषित वर्णू जिये इस पाप-भर्म के ?  
है मेरा कर्तव्य पालना पहले प्रण को ;  
अंतर्दामी आप देखिए मेरे मन को ।

( ४७ )

“जिस पर चित्रित चित्र हो रहा उनका केवल ,  
रसना जिनका नाम जप रही प्रतिपन्न नल-मल ।  
उनके पाप विना स्वर्ग भी मुझको सुना ,  
और त्रिलोकी-राज्य दुःख-दायक है दूना ।

( ४८ )

“बस समेटिए आप अलौकिक माया को अब ,  
सुंदर अवसर यही और फिर आवेगा कब ?  
आप करेंगे दिव्य रूप निज-निज धारण जब ,  
जान सकूँगी प्राणनाथ नैपथ को मैं तब ।”

( ४९ )

सुनकर करुणा-जनक भीमजा के वधनों को—  
मन में महती दया आ गई उन देवों को ।

दसना गान नहान प्रेम भंगल नल ही में ;  
 घतघल-सी मध गद्द द्रूप ही उनके जी में ।

( २० )

करने लगे विचार परस्पर फिर वे निर्जर—  
 "भीती के मन, घचन, मुदि नल में है तस्पर ।  
 पटनापेगी कर्मी न गद पर को लयनाला ;  
 है यह सर्वा मती उचघ उग्रिय-हुल बाला ।

( २१ )

"ठीक नहीं शय अधिक मताना इस कन्या को ;  
 देना कुछ परदान चाहिए इस धन्या को ।  
 होकर हम दिवपाल मती का धर्म मिटाते ;  
 मयसे बढ़कर मर्त्य-लोक में पाप कमाते ।

( २२ )

"अथ करने से देर बात सारी विगदेगी ;  
 जो फलक का शीघ्र शीघ्र पर टीका देगी ।  
 मोल हमारी पोल हमें बदनाम करेगी ;  
 यथा-सुधा भी मोल मान का शीर हरेगी ।

( २३ )

"यह नल के अतिरिक्त किमी को नहीं परेगी ;  
 अपने प्रण को शीर सर्वथा पूर्ण करेगी ।  
 है रमणी-आदर्श उचित ऐसा ही होना ;  
 पाकर श्री का जन्म नहीं तो श्रुया हुआ ।"

( २४ )

देवनाय, जलनाथ, अग्नि को और काल को—  
 करना पड़ा मनष्ट शीघ्र फिर कपट-जाल को ।



अपना-अपना रूप कर लिया सवने धारण्य,  
नती, सुंदरी और अधीरा भैमी-कारण्य ।

( ११ )

उसने फिर पहचान लिया चारो देवों को,  
देख-देखकर स्पष्ट, शास-वर्णितछचिह्नों को ।  
ये वे सब अस्वेद, स्तम्भ थे लोचन उनके,  
ये नल-धूलि-विहीन वदन अब-मोचन उनके ।

( १६ )

मालाएँ अज्ञान देव-तरु के पुष्पों की—  
कारती थीं छवि-वृद्धि कांत उनके कंटों की ।  
झाया-घरणी-स्पर्श-हीन हीं वे बैठे थे;  
नहीं वायु ने विष्य वल्य उनके उबते थे ।

( १७ )

उनके बाईं ओर मध्य आत्मन † पर नू पर—  
दिखलाई फिर दिपु वहाँ उसको नल नृप-वर ।  
थी कुहलाई हुई कंठ में उनके माला;  
पड़ता था प्रतिचिव भूमि पर और निराला ।

( १८ )

स्वेद-कणों का जाल झलकता हुआ निरंतर—  
होता था यों ज्ञात भाल पर महा मनोहर—  
मानो थे द्युतिमान सुवाघर-अर्ध-भाग पर—  
हेल-नेल से खेल-खेलकर सुधा-विंदु वर ।

---

\* महाभारत के अनुसार ही नज्दण मिले गए हैं । † नल का मिहामन पृथ्वी से लगा हुआ था ।

( ५६ )

स्वर्ण-पट्ट-सम कांति-युक्त गगा-तट ऊपर—  
 राजहंस-अवतंस सुप्त थे अथवा सुंदर ।  
 या पय-सागर-अर्ध-भाग पर थे अति उज्ज्वल—  
 सुरपति के गनराज-भाळ के घर मुक्ता-फल ।

( ६० )

निमिष-युक्त थे नेत्र नील नीरज-वर मद-धर ;  
 मृग-किशोर थे देख जिन्हें होते चञ्चलतर ।  
 नलिन-नयन वन मदन रदन या स्वयं दवाता ;  
 जिन्हें देखकर शोक-सदन-सम वदन बनाता ।

( ६१ )

थे विचित्र वे, विंशु नहीं था उनमें अंजन ;  
 तो भी अजन-युक्त नेत्र-मद करते गंजन ।  
 उदते थे नभ-भोर देखकर जिनको खजन ;  
 और निरंजन क्ष-नयन-सदृश थे वे मन-रंजन ।

( ६२ )

पुष्प-मुकुट से गिरी हुई रज सौरभ-बंधन—  
 थी विभूति के सदृश पुरंदर-गार्ध-विमर्दन ।  
 गंध मृग्य अलि-वृंद-पंक्तियों महा मनोहर—  
 भव्य भुजग-सम ज्ञान हो रही थीं वन धूसर ।

( ६३ )

चदन-रेखा भृकुटि-मध्य विधु-सम अनुपम थी ;  
 शोणित-मलयज-विह्व भाङ्ग-लोचन के सम थी ।  
 ऐसे नल-त्रिपुरारि ठमा-कर-कमल-प्रह्व-हित—  
 थे मानो सुर-वृंद जनेती-सहित वहाँ स्थित ।

\* विष्णु के नयनारविंदों के ममान लोकाभिराम ।

( ६४ )

नल के पावन वल्ल पवन से कंपमान थे ;  
 तन पर उडकर झुधर-उधर घों झुवि-निधान थे,  
 मानो देख समीप तमा को क्रोधित होकर—  
 वहा रही हो तुंग तरंगों गंगा शिव पर ।

( ६५ )

या विरहानल-शांति-हेतु तन-कांति-सुधा-सर—  
 दमयंती से डमड रहा था तप्त स्वपति पर ।  
 पट-कंपन-मिस बना प्रेममय हो खिलता था ;  
 अथवा नल से अनिल बाँह भर-भर मिलता था ।

( ६६ )

बहुत दिनों की विरह-व्यथा को मानो हरने—  
 मैत्री का सौंदर्य देखकर ईर्ष्या करने—  
 अपने से भी अधिक रसवती मान उसे वह—  
 काति-वसुमती और अलौकिक जान उसे वह—

( ६७ )

करके नल-पद-स्पर्श भूमि यह बता रही थी—  
 हूँ मैं तेरी सौत, बात यह जता रही थी ।  
 अथवा अपना प्रेम उसे वह दिखा रही थी ;  
 या सुंदर स्त्री-धर्म-कर्म को सिखा रही थी ।

( ६८ )

नल के गल्ल में द्वार श्वेतमणि-गण का सुंदर—  
 होता था यों ज्ञात भीमजा को अति सुखकर,  
 मानो स्पृज महर्षि मधुन पीयूष पान-हित—  
 वदन-सुधाकर-निकट हुए हैं साकर शोभित ।

( ७४ )

वरण हुषा पति देख नारियों और नरों ने—  
 'साधु-साधु,' यों कहा प्रेम से देववरों ने ।  
 बजने लगे मृदग, शंख, भेरी, सहनाई ;  
 दुंदुभियों पर और लगी फिर पड़ने घाई ।

( ७५ )

द्वी आशिष अभिलषित द्विजा ने उन दोनों को ,  
 सुदरियों ने छेह दिए सुंदर गीतों को ।  
 भीम-प्रिया ने किया अयाचक वद्विजनों को ;  
 भीमराज ने लुटा दिया धन विप्र-गणों को ।

( ७६ )

भूपित भूप उदास किए अपने वदनों को—  
 छवि हत हो चल दिए शीघ्र निज-निज सदनों को ।  
 कुट्टिन में सब और महा आनंद छा गया ,  
 मानो तनुधर मोद वहां हो स्वयं था गया ।

( ७७ )

आपस में अति प्रीति देख दोनों की सच्ची—  
 अपने सम्मुख निरख जुगल जोड़ी को अच्छी—  
 बोला नल से इद्र—“आप आदर्श भूप हैं ;  
 और जगत के बीच दूसरे विष्णु-रूप हैं ।

( ७८ )

“स्वार्थ छोड़कर सभी हमारे श्रेष्ठ दूत बन--  
 किया आपने कठिन कार्य जो हो प्रहृष्ट मन—  
 उमकी नटिना करूँ मला मैं प्राय कहीं तक--  
 पहुँच सकेंगे नक्षों जेप भी मत्स्य चडा तक ।

( ७३ )

“हे नन्दा ! इसमें आज बहुत धी हर्षित होकर—  
 मैं ये दों वरदान ॐ आपको देता सुंदर ।  
 मेरे दर्शन स्पष्ट यज्ञ में तुम पाओगे ;  
 होकर जीवन-मुक्त स्वर्ग सीधे जाओगे ।”

( ८० )

कहा अग्नि ने—“सुम्हें जहाँ तुम जब चाहोगे ,  
 उसी समय साक्षात् वहाँ सुम्हेंकी पाओगे ।  
 मेरी कांति-समान लोक देता हूँ उज्ज्वल ;  
 भोगो, थिलसो इन्हें सर्वदा सुख से हे नन्द !”

( ८१ )

पाक-शास्त्र-चातुर्य, धर्म में दृढता संतत ,  
 ये वर उनको दिए काल ने अपने अभिमत ।  
 और अत में कहा वरुण ने प्रसुवित होकर—  
 “किया हमारा कार्य स्वार्थ को तुमने खोकर ।

( ८२ )

“इससे मेरी जहाँ करोगे तुम इच्छा जब ,  
 वहाँ शीघ्रतम प्रकट स्वर्य ही मैं हूँगा तब ।  
 नंदन-वन के महादत्त वन-पालक-निर्मित—  
 है यह माला कल्पवृक्ष-पुष्पों से विरचित ।

( ८३ )

“देता हूँ मैं इसे आपको होकर हर्षित ;  
 जो सदैव अम्लान रहेगी और सुगंधित ।”  
 आठो ये वरदान उन्हें अत्युत्तम देकर—  
 दमयंती से लगे इस तरह कहने निर्जर—

( २४ )

“हे पुत्री ! पति-भक्ति और प्रण देख तुम्हारा—

आज महान प्रसन्न हो रहा चित्त हमारा ।

देते हैं हम तुम्हें इसलिये दो वर सुन्दर ।

हो जाओगी महामुदित तुम निम्हें प्राप्त कर ।

( २५ )

“यह पातिव्रत सदा तुम्हारा अटल रहेगा ;

सती-शिरोमणि सदा तुम्हें त्रैलोक्य कहेगा ।

जो सतीश्व को कभी नष्ट करने आवेगा ;

वही तुम्हारे अतुल्य छ तेज से नल जावेगा ।”

( २६ )

इस प्रकार वरदान हृष से उसको देकर—

नल में अतर्पण हो गए चारो निर्जर ।

वे विमान में बैठ चत दिग् स्वर्ग-लोक को ;

बैठा करके और चित्त में मडाशोक को ।

( २७ )

उधर भीम ने पूज्य पुरोहित को बुलवाकर—

धर्म-शास्त्र अनुसार धेकतन लग्न दिखाकर—

नल के साथ विवाह कर दिया दमयंती का ,

जिससे इत्का भार हो गया उसके जी का ।

( २८ )

कुंडिनपुर में लगा ज़ोर से उमड़-सुमड़ने ;

अद्वितीय आनंद-सिंधु बाँसों ही चढ़ने ।

जिसके अंतर नमो ज़री के तंबू, डेरे ,

भी नानो वस्तुं तरंगे पुर को घेरे ।

\* इन वर के प्रभाव से अग्रे एक व्याथ जग दिया जायगा ।

( ८६ )

नर-नारी थे रत्न, छुद्र थलचर ये जलचर ;  
 नाग-उष्ट्र थे मत्स्य, वाजि ये मीन कात्ति-वर ।  
 श्रेष्ठ, सरस संगीत-शब्द सुखदायक, सुंदर—  
 था तरंग-नव रम्य महागंभीर-धीरतर ।

( ८७ )

नाविक, दासी, दास और नाचें थीं रथ-वर ;  
 मोद-प्रेम रस-मिलित नीर था उसके थंदर ।  
 इस सागर को दिया देसकर शुभ वेलाछ को—  
 सेना-वेला-सहित भीम ने नल राजा को ।

( ८८ )

रत्न लेते जा भीम नगर में बहुत दिनों तक—  
 इस धनुषम आनंद सिंधु को, तो संहारक—  
 इसका धाता शीघ्र पिपात्ता-पीडित होकर—  
 जिसे महर्षि अगस्त्य सभी कहते हैं नर-वर ।

( ८९ )

इससे उसका किया समपंथ उसने नल को,  
 जान गया था क्योंकि अन्तर्किक वह नल-नल को ।  
 है समर्थ † सब तरह आज मेरा जामाता—  
 था उसको विश्वास चित्त में यह सुप्तदाता ।

( ९० )

चले निपथ की ओर सिंधु को नल फिर लेकर—  
 याचक-गण्य को वर्य और भूपण्य-धन देकर ।  
 दर्शनीय सब स्थान प्रिया ने उन्हें दिखाए ;  
 जिसमें मृगया-क्षेत्र चद्रुत-से प्रिय ने पाए ।

● समय, दिनारा, तट । † वा अगस्त्य को भी पराजित कर मकता है ।

( १४ )

कारके वे विश्राम शांति से और हर्ष से—  
 पहुँचे निपद्य-समीप अलौकिक समुत्कर्ष से ।  
 जिसे छ देखने देव विमानों पर फिर चढ़कर—  
 नभ में आने लगे हर्ष को मन में भरकर ।

( १५ )

होता था यों ज्ञात मिलेंगे आज परस्पर—  
 दो अतुलित आनंद-सिधु सीमा को तलकर ।  
 सागर-संगम को न किसी ने देखा भू पर ;  
 आए थे बस यही सोचकर देव वहाँ पर ।

( १६ )

एक दिवस फिर शुभ सुहूर्त में सुंदर समारोह के साथ—  
 पहुँच गए निज अन्नभूमि में भैमी-सहित निपद्य-नरनाथ ।  
 उन दोनों का देख-देखकर रहन-सहन अतुलित उत्कर्ष—  
 सारे प्राणी यों कहते थे—‘राजा-रानी ये आदर्श ।’

---

\* नभ-नैभव और दमपत्रा को ।



## नवों सर्ग

( १ )

समाचार सुन सुप्रद निषय के नय गहनारी -  
नज-दरों के किये जगे काने तैयारी ।  
पर-पर होने लगी मजोनों प्रूप सजाए—  
पर-गुणों के साथ और पर-मिथि कनाए ।

( २ )

अगवानी के जिये पुरुष का जाने भागे -  
बाजक घजने जगे और उनके भी भागे ।  
पर साइद भंगार प्रतीति-प्रति-वापिका -  
रोड़ों पर का नगी कियो तिनकी-समिया ।

( ३ )

मान, गुजारा, फल बडा ने मुक्ति होकर -  
उनके पुरुष बदन रोहमें रोँ लया पर—  
सम-समों के मियन का कर कर-रंजन -  
नाम विरलता दुय मेहराईर पर लया ।

( ४ )

या कतों के भार लिये से पुनराजी -  
जो सिद्धा के लिये कलात कलात—  
ऐसा कल्प नलोप साउं को सुखी पर-  
का यी नारी कला कला-कला-कला ।

( २ )

सुंदरियों ने छेड़ दिए फिर गान सुरीले—  
 थे जो सुंदर, सभ्य और तालों से कौले ।  
 जिनको सुन, वन कृष्ण, कोकिला लगीं डोलने ;  
 चाखी - वीणा और वेसुरी लगीं डोलने ।

( ३ )

भूप-सवारी लगी पास जब उनके आने—  
 लाज-कण्ठो का लगीं शीघ्र तब वे बर्षाने ।  
 इनकी त्रिपुला वृष्टि दृष्टि को हर लेती थी,  
 जन के मन में और भाव ये भर देती थी ।

( ७ )

मानो बर्षा रहीं थप्सराएँ अति सुंदर—  
 सुरमित सुमन-समूह स्वर्ग - सुमनस - नायक पर ।  
 या पुर - नारी - प्रेम सुपावन और शचंचल—  
 ताज रूप में प्रकट भूप पर होता पल-पल ।

( ८ )

या नल्ल-भैमी-कीर्ति स्पर्श जीवन का कर-कर—  
 खीलों का मिस तिम लाटती थी फिर उन पर ।  
 जो समशीग्य नदी सुपन को यों धौटाता—  
 तो उनका सैद्धं एक पल में खो जाता ।

( ९ )

नल्ल-दमयंती-सुयग करुण संसार - धवलकर—  
 कर मजता या नारि-कचो को पत्र में तिततर,  
 भिनु वस्त्र को धींच लिया था उनसे मुप पर,  
 दृवा का जन अत हो न पाया था उन-पर ।

( १० )

पीली, जाल, गुलाब, गुलाबी रंग मनोहर—  
 हन सबका उपयोग परस्पर मानव कर-कर—  
 गए सवारी-साथ राजप्रासाद-निकट फिर ;  
 देवालय को लजा रहा था जो मण्डिर-मंदिर ।

( ११ )

सिंह पोल पर लगे हुए थे मंगलकारी—  
 केले के दा वृक्ष मनुज-मुनि-मानस-हारी ।  
 या भैमी-सोभाय-महीरुह तनु धारण कर—  
 हरा-भरा वन वहाँ खडा था महा मनोहर ।

( १२ )

पुष्प-राशि रनवास-बीच नभ से गिरती थी—  
 जो सुद-घन घन : पुष्प विंदुगण-सम लगती थी ।  
 नारि-मयूरि-प्रमोद देख जिसको बढ़ता था—  
 मानम-मानस और नीर पाकर चढ़ता था ।

( १३ )

नल-भाता-नन-जलधि-मध्य आनद-वीचि-गण—  
 वदन-चंद्र-युग देख वृद्धि पाता था क्षण-क्षण ।  
 प्रलय-भीति से खींच रही थी साड़ी सुंदर—  
 विधु को ढकने वधू सास को पास बानकर ।

( १४ )

निज माता से बार-बार नल आशिष पाकर—  
 कर उपचार-समाप्ति शीघ्र फिर आए थाहर ।  
 किया शासनारंभ नीति से ऐसा सुंदर—  
 सुगम हो गए जिते देखकर नीति-निपुण नर ।

( १५ )

मन में 'महा प्रसन्न, प्रसन्ना ल भैमी होकर—  
 गई सास के पास थकावट अपनी खोकर ।  
 शीश नवा . सप्रेम हुई सेवा में तत्पर ;  
 बातें करने लगी । नम्रता से फिर सुंदर ।

( १६ )

यद्यपि । दासी-दास । कई थे वहाँ उपस्थित—  
 तद्यपि बनाए भोज्य स्वर्य उसने हो हर्षित ।  
 हुई। महान प्रसन्न सास उनको भक्षणकर ;  
 बोली उससे—“वधु, बने ये स्वाट्टु मनोहर ।”

( १७ )

इस प्रकार प्रतिदिवस बनाती थी वह बर्द्धन ;  
 गुरुजन का पति-सहित सदा करती मन रंजन ।  
 दोनो की निज शीश सदा आज्ञा कर धारण—  
 करती थी वह काम प्रफुल्लित रखकर निज मन ।

( १८ )

कई प्राकृतिक दृश्य बनाकर सुंदर-सुंदर—  
 सुर नर-खग-पशु-चारु-चित्र चित्रित कर, कर, कर—  
 चित्र-कला-चातुर्य सदा वह दिखलाती थी—  
 निज सखियों को, और उसे वह सिखलाती थी ।

( १९ )

प्रासादों में सदा स्वच्छता वह रखती थी ।  
 हस्त-कला में लगे हुए ही वह रहती थी ।  
 गायन-विद्या उसे बहुत उत्तम थाती थी ।  
 अपने इष्ट-समीप भवन भी वह गाती थी ।

● भिन्नपूर्वा भिन्नविधा । † । चन्द्र-कला रो ।

( २० )

पति-सेवा को प्रथम धर्म वह सदा मानती ;  
 निज स्वामी को और ईश को तुल्य जानती ।  
 माता से भी अधिक सास का आदर करती ;  
 विना कहे ही दुःख दासियों का वह हरती ।

( २१ )

अहंकार को छोड़, मोड़कर मद्य से मन को—  
 रखती थी वह मुदित प्रेम से परिजन-गण को ।  
 नहीं किसी को कष्ट कभी भी वह देती थी ;  
 पुर-नौका को सौख्य-सिंधु में वह खेती थी ।

( २२ )

नन्द-माता के बहुत मना करने पर भी वह—  
 सेवा करती सदा प्रेम से बातें कह-कह ।  
 उसकी गुण-गण-कीर्ति सभी भूतल पर छाकर—  
 थी दिव में भी चली गई वर-वेप बनाकर ।

( २३ )

छवि में रति-श्रवतार हमारी है यह रानी ;  
 मति में गिरा-समान उसे कहते थे प्राणी ।  
 पातिव्रत में उसे शिवा के सदृश जानते ;  
 लक्ष्मी-रूपा उसे सभी थे लोग मानते ।

( २४ )

पाकर ऐसी वधू राजमाता थी हर्षित ;  
 सारी सखियाँ देख उसे रहती थी प्रमुदित ।  
 श्रेष्ठ स्वामिनी उसे मानकर गुण-नाथ-युक्ता—  
 आशा - कारिणी - प्रजा सदा रहती मुद - युक्ता ।

( २५ )

आनंदित ही सदा भूप-वर नल रहते थे,  
 उसको 'प्राग्धाधार, प्रिये' प्रतिदिन कहते थे।  
 खेती थी वह भाग राज के सज कार्यों में;  
 नई नहीं है मथा पाठको ! यह आर्यों में।

( २६ )

अबलाओं ने यहाँ किए हैं काम कठिनतम—  
 बतलाते हैं धीर, वीर भी जिनको अनुपम।  
 रक्खा अपना मान, आन भी रक्खी अपनी;  
 हुई उन्हीं से धन्य, भव्य - भारत - भू-जननी।

( २७ )

श्रीसीता का चरित कौन जन नहीं जानता—  
 है, उसको आदर्श कौन है नहीं मानता।  
 कौशल्या, कैकयी, सती - सावित्री, तारा—  
 है इनसे ही पूज्य हो रहा देश हमारा।

( २८ )

सज कार्यों में बनी सहचरी वन रहती थी;  
 कठिन धर्म का कष्ट हर्ष से वह सहती थी।  
 या उसका सहवास महायज्ञ नल को दूना,  
 बगता था बस उन्हें विना उसके सज सूना।

( २९ )

करती थी वद उन्हे सुकर्मों में उत्साहित;  
 दुष्टियों में मद्रा वचाकर स्वता हर्षित।  
 होता था दित अधिक प्रजा का इमने मतत;  
 राज-रानी क्योकि उसी में रहते थे रत।

( ३० )

स्थापित करके कई महाविद्यालय पुर में—

किया उन्होंने धुरी प्रथाओं का चयन पुर में ।  
की सुविधाएँ कई, प्रजा-सुख-हेतु वहाँ पर—  
होता था सब न्याय-नीति से काम जहाँ पर ।

( ३१ )

महा प्रसन्ना हुई भीमजा और खोलकर—  
कन्याओं के लिये पाठशालाएँ सुंदर ।  
उपवन, कूप, धनूप धर्मशालाएँ उत्तम—  
वदते थे दिन-रात वहाँ पर ग्रीष्म-दिवस-सम ।

( ३२ )

आर्थिक, भासिक और हुई सामाजिक उन्नति ;  
सभी तरफ से सुखी देश-नर-नारी थे श्रुति ।  
नल-भैमी को प्रजा प्रिया लगती थी सारी ;  
जाती थी जो स्वयं उन्दों पर वारी-वारी ।

( ३३ )

नल राजा ने समय हर्ष के साथ बिताया ;  
रानधर्म को सभी तरफ से द्रव्य निभाया ।  
दिष्ट ईश ने उन्हें रत्न दो अद्भुत, अनुपम—  
सुख-स्वरूप में जो कि नहीं थे उनसे कुछ कम ।

( ३४ )

इंद्रसेन था नाम पुत्र का महा मनोहर ,  
था कन्या का नाम इंद्रसेना श्रुति सुंदर ।  
सब प्रकार से सफल हो गया नल का जीवन ;  
एपने ही अनुकूल प्राप्तकर सुता-पुत्र-धन ।

( ३५ )

वे शिशुओं के साथ बिताते थे दिन सुख के ;  
 पास आ गए किंतु दिवस थे उनके दुःख के ।  
 यद्यपि उनका प्रेम नित्य था बढ़ता जाता ;  
 उनके सुख को तदपि काल था प्रतिदिन खाता ।

( ३६ )

यहाँ ❀ किसी का समय एक-सा बना न रहता ,  
 सुखी मनुज भी कभी कष्ट है भोषण सहता ।  
 फिरते रहते सदा चक्रवर्त जग में सुख-दुःख ,  
 आती बाधा कभी न मग में इनके सम्मुख ।

( ३७ )

जो नर रोता खूब श्रान्न बन महादुःखी है ;  
 हो जाता कब वही ईश्र के सब्बा सुखी है ।  
 सुख में होकर आज दीन पर जो हँसता है ;  
 वही मनुज कल स्वयं जाल में जा फँसता है ।

( ३८ )

वीर-भाव का महा शौर्य से जो दिखलाता ,  
 क्रुद्ध काल को और युद्ध-विद्या सिखलाता ,  
 ऐसा भी रखवीर पराजय कल पाता है ,  
 यन्त्रों † के भी और हाथ से बँध जाता है ।

( ३९ )

जो महलों के बीच देखते सुख का सपना—  
 होता उनको कठिन कभी फिर पल भी अपना ।  
 जो इन यन आपस उज़ारो कष्ट उठावे—  
 वे ही सुख का गुह्य कभी हैं सिर पर पावे ।

■ इस अन्तर् में मार में । † अब जय न धर्मनमान को ना बांध दिया था ।



( ४० )

जिनके कर से आज दान में रत्न बरसते—  
 दाने-दाने हेतु कभी वे हाथ ! तरसते ।  
 फिरते हैं जो आज माँगते भीख घरों में—  
 हो जाते हैं गण्य-मान्य वे कभी नरों में ।

( ४१ )

जिस वन में कल-कंठ बोलती मीठे स्वर को ,  
 कुंज-पुंज में मनुज जहाँ रटते हरि-हर को ,  
 वहाँ धूलि के मेघ वायु से कभी उबेंगे ;  
 पथिक लोग भी उधर भूलकर नहीं मुबेंगे ।

( ४२ )

वहाँ कहीं भी नहीं दृष्टि में जल आता है—  
 कभी वहाँ पर स्वच्छ सरोवर भर जाता है ।  
 हैं जिस भू पर आज बस रहे नगर मनोहर—  
 कभी विहग भी नहीं उबेंगे उस पर होकर ।

( ४३ )

जन को जीवन-मुक्त कभी जो कर देते थे—  
 और महा अज्ञान ज्ञान से हर लेते थे—  
 वे ही ॐ मानव आज चित्त-निर्वलता-कारण—  
 होकर के परतत्र हथकड़ी करते धारण ।

( ४४ )

जो मानव हूँ काल शक्तिशाब्दी होकर के—  
 सता रहे हैं आज निर्बलों को घन हरके—  
 कर देंगे वे दीन कभी काला सुख उनका ;  
 हर लेंगे वे शस्त्र-हीन भी सब सुख उनका ।

( ४१ )

जिन पर कभी असभ्य लोग शासन करते थे ;  
 चाट - चाटकर रक्त सौख्य जिनका हरते थे ।  
 आज समय का फेर, जला जा बली महा है—  
 भूमंडल का राज्य उन्हीं को सौंप रहा है ।

( ४६ )

करते थे जो कभी सभी पृथ्वी का शासन—  
 मिलता घर में है न उन्हीं को आज सुखासन ।  
 कहलाते थे कभी पूज्य जो सबके गुरुवर—  
 नीचों के भः आज हो गए हैं वे किकर ।

( ४७ )

समय बड़ा बलवान नहीं वीरों से डरता,  
 अज्ञाना, बालक, वृद्ध किलो पर दया न करता ।  
 करता कहीं उजाड़, कहीं पर रास रचाता ;  
 कठ-पुतली की तरह सभी को नाच नचाता ।

( ४ )

नल का सुख का समय बीतने पर जग घाया—  
 क्षीन्न भाग्य ने तभी एक फिर पलटा साया ।  
 यद्यपि सभी अदृश्य रूप में ही होते थे,  
 तदपि अंतर्गत सौख्य-दर्प को नल रोते थे ।

( ४३ )

जिन देवों ने उन्हें कभी निज दूत किया था—  
 घरदानाष्टक मदा मुदित हो और दिया भा—  
 ये लय होकर भिदा स्वयंवर से आते थे—  
 न्यासवान में बैठ स्वर्ग को जग दात थे—

( ५० )

उसी समय में मिले उन्हें कलि-द्वापर आते—  
ठाट-चाट से चढ़े वढ़े भ-सम्मुख जाते ।  
उनका ऐसा वेग थीर असमय में जाना—  
देख इंद्र ने गुप्त भेद कुछ हसमं माना ।

( ५१ )

आकर उनके पास यथोचित कर प्रणाम ॐ फी—  
पूछा उनसे—“आप जा रहे कौन धाम को ?  
क्या है ऐसा काम, शीघ्रता क्यों है ऐसी ?  
मैंने देखी नहीं आप दोनों में जैसी ।”

( ५२ )

कलि ने कहा—“सुरेंद्र ! स्वयंवर को जाते हैं ।  
दमयती को अभी स्वर्ग में हम लाते हैं ।  
उस पर मोहित महा हो रहे हैं हम ऐसे—  
होता है शक्ति मुग्ध कुंडली मणि पर जैसे ।”

( ५३ )

“सुनो कले ! हो गया स्वयंवर ।” कहा शत्रु ने—  
“जिया इताश महान हमें भी काल-चक्र ने ।  
जाकर के अब भला वहाँ क्या आप करेंगे ?  
जूँठी पातल चाट-चाट क्या पेट भरेंगे ?”

( ५४ )

कंपित स्वर से कहा मद्दा कलि ने घबराकर—  
“क्या सचमुच ही कहो हो गया अहो ! स्वयंवर ?  
उसने † किसके हाथ ? गले में माला बाली ?  
क्या मेरा यह कंठ रहेगा यों ही खाली ?”

\* उपहास करने की नमस्कार क्रिया । † दमयती ने ।

( २५ )

हँसकर बोला इंद्र—“रहेगा यों ही ज़ाली ;  
उसने नल के साथ प्रतिज्ञा अपनी पाखी ।  
जिस पर होकर मुग्ध किया था उसने प्रण को—  
निभा दिया है उस लगाकर उसमें मन को ।”

( २६ )

हो विस्मित अत्यंत कहा कलि ने मुँहकाकर—  
“प्रभु के रहते हुए हुआ अन्याय वहाँ पर ।  
नर को उसने बरा छोड़कर निर्जर अनुपम !  
नल में ऐसी बात बताओ क्या थी उत्तम !”

( २७ )

“था उसका अनुराग अटल केवल नल ही में ;  
यही बात है मुरय, प्रेम होना ही ली में ।  
है जिससे अति प्रीति, वस्तु वह भले बुरी हो ,  
पर प्रेमी को सदा ज्ञात वह बहुत भली हो ।

( २८ )

“नैपथ तो गुणवान, अलौकिक रूपवान थे ,  
शक्तिवान, यत्नवान और अति बुद्धिमान थे ।  
सार्धों ऐसे योग्य पात्र को क्यों छोड़ेगी ?  
अन्य मनुज के साथ गोंठ वह क्यों छोड़ेगी ?”

( २९ )

यह सुन कलि के दुष्ट हृदय में दाह लग गई ,  
और क्रोध की अग्नि धधकती हुई जग गई ।  
जिसकी ज्वाला नेत्र-काच से दीप्त रही थी ;  
जिसमें मुल की काति दहकना सीख रही थी ।

( ६० )

करके लोचन लाल, काज से मुख को खोला—  
 हो अति कोपाविष्ट वचन ये कलि फिर बोला—  
 "किया वंद के योग्य काम भैमी ने स्वामी !  
 अपराधी है महा नीच वह नल भी कामी ।

( ६१ )

"क्यों माला को भजा किया स्वीकृत उस नल ने ?  
 क्या पहनी है उसे कोप-पावक में जलने ?  
 मेरा दाहक क्रोध भस्म कर सकता पवि को—  
 जलने में क्या देर लगेगी मानव-द्वि को ?

( ६२ )

"मनुज-वरण का मजा चखाऊँगा भैमी को—  
 तभी मिलेगी शांति प्रज्वलित मेरे जी को ।  
 सिखलाऊँगा प्रेम उसी प्रेमी को करना—  
 किस प्रकार है देव-योग्य कन्या को हरना ?"

( ६३ )

"कले ! कुपित क्यों हुआ, बात यह अनुचित तेरी ;  
 उसने नल को वरा मानकर आज्ञा मेरी ।  
 ये हम चारो वहाँ उपस्थित समा-भवन में—  
 सती भीमला जहाँ रही थी पक्षी प्रण में ।

( ६४ )

"देवाज्ञा कर प्राप्त प्रतिज्ञा अपनी पाली—  
 है उसने फिर धोष्ठ फंड में माला डाली ।  
 क्या है नल का दोष उसे स्वीकृत करने में ?  
 क्या भैमी-अपराध, योग्य वर को वरने में ?

( ६५ )

“हे निगमागम शास्त्र-विद्वान्, जो अचल धर्म में,  
 है अतीव जो दृढ़ श्रेष्ठ-नृपनीति-मर्म में,  
 रहते हैं सुर नृप यज्ञ में, घर में जिसके,  
 हैं सब सुख-जल-पूर्ण देश-सागर में जिसके—

( ६६ )

“ऐसे नृप को कहे ! सताना ठोक नहीं है,  
 भू पर ऐसा भूप दूसरा नहीं कहीं है।  
 ऐसे जो जो मुक श्राप महत्मा देता है—  
 वह उसका फल शीघ्र श्राप भी पा लेता है।

( ६७ )

“अपने को ही शपित किया है उसने जानो।  
 अपने को हा मार रहा अपने से मानो।  
 इससे हे कलिदेव ! क्रोध को शांत कीजिए।  
 उनको कुछ परदान थाप भी और दीजिए।

( ६८ )

“घात गई सो गई, हो चुका हे जो होना—  
 तुम, इन सारे देव खो चुके हैं वो खोना।  
 क्यों फिर ऐसे श्राप बरसेना चढ़ा रहे हैं ?  
 क्यों नभ तक निज भोह इत तरङ्ग चढ़ा रहे हैं ?”

( ६९ )

ऐसा क्य चउ दिण् सुरों के साथ इद्र फिर ;  
 और मित्र के मदित चत्ता कलि कर नीचा शिर।  
 नख रात्रा को लक्ष्य बना चढ उतरा भू पर—  
 दरम देपना हुआ मागं नें मझ ननोदर।

( ७० )

उसको धातें कहीं बहुत सी उस द्वापर ने ;  
 किए अनेक उपाय कोप को उसके हरने ,  
 पर मानी ने नहीं एक भी मानी उसकी ;  
 ज्ञानी द्वापर ने न चाख पहचानी उसकी ।

( ७१ )

कलि बोला—“मैं नष्ट राज नल का कर दूँगा ;  
 सब कुछ करके हरण शीघ्र अब बदला लूँगा ।  
 मित्र ! कभी अन्याय नहीं मैं सह सकता हूँ ।  
 तुम्हसे पूरा भेद नहीं मैं कह सकता हूँ ।

( ७२ )

“अलग-अलग कर उन्हें दुःख मैं प्रतिदिन दूँगा ;  
 उनके धन, जन और मान को भी हर लूँगा ।  
 उन दोनों को ठीक प्रेम का तभी पड़ेगा—  
 जब उनके अति दीर्घ विरह का व्याज लड़ेगा ।

( ७३ )

“दे सहायता मुझे आज तू महा कर्म में ;  
 समझ गया तू है कि नहीं इस गुप्त मर्म में ?  
 हृदय जलाती झूब अग्नि ईर्ष्या की मेरा ;  
 ऐसा ही बस हाल देखता हूँ मैं तेरा ।”

( ७४ )

कलि ने उसके यही चित्त में बात जमाकर—  
 कुंडिन को प्रस्थान कर दिया शीघ्र अनंतर ।  
 पहुँच वहाँ पदचंद्र रचे फिर गुप्त रूप से ;  
 किंतु परालय मिला उसे नल वीर भूष से ।

( ७५ )

कई युक्तियाँ गढ़ीं फँसाने उन्हें जाल में ;  
 नहीं एक भी चली, रहे वे उसी हाल में ।  
 किए उपाय अनेक दौव पर उन्हें चढ़ाने,  
 नहीं एक भी पार पढा निज हर्ष बढ़ाने ।

( ७६ )

अपना-सा मुख लिए नहीं वे बैठ गए, पर—  
 उद्यम करते रहे झूव वे वहाँ निरंतर ।  
 कष्ट-मुक्त, उपयुक्त हँदते थे वे अवसर ;  
 किंतु इष्टि-गत हुआ एक भी नहीं लाभकर ।

( ७७ )

है सबसे उद्योग बढ़ा यह सही जानिए,  
 कठिनाई का पिता और गुरु इसे मानिए ।  
 मार्जारी के पास नहीं है महिषी सुंदर—  
 उद्यम से वह दूध-मलाई खाती दिन-भर ।

( ७८ )

कष्ट से किस तरह नल को हराया दुष्ट आता ने—  
 सहे ये कष्ट फिर क्या-क्या निपध-नर-नारि-त्राता ने—  
 इसी की है कथा आगे, दिनों का फेर दिखलाने—  
 क्रियों को भोम-तनया के चरित से सीख लिखलाने ।

---



## दसवाँ सर्ग

( १ )

मित्र बनाकर पुष्कर को, कलि नलागार में करके वास—

जगा हँवने अवसर उनकी शुद्ध बुद्धि का करने हास ।

कुछ वर्षों के पीछे उसको मिला एक उत्तम अवकाश—

जो नल के धन और मान का कर देगा अति शीघ्र विनाश ।

( २ )

हो अपवित्र ॐ एक दिन नल ने, ढाले विना पदों पर अम—

ले केवल आचमन कर दिया संध्योपासन का आरंभ ।

इसी समय मायावी कलि ने निज माया-बल से निःशेष—

शीघ्र अपावन चरणों द्वारा नल शरीर में किया प्रवेश ।

( ३ )

वहाँ पूर्ण अधिकार जमाकर, फिर पुष्कर के गया समीप ;

और जगा कहने वह उसको इस प्रकार से—“हे कुल-दोष ।

वेर नहीं अब ठीक, कपट के इन पासों को लेकर आप—

जाकर द्यूत खेतिए नल से, नष्ट कीजिए मन-संताप ।

( ४ )

“ऐसे-वैसे नहीं, किंतु हैं ये द्वार से निर्मित अन्न—

कर देंगे जो जयी आपको आज आपको करके पक्ष ।

रत्ती-भर भी सूठ नहीं है इन वचनों में हे नर-वृद्ध !

बीसो बिसवा नल हारेंगे मित्र ! आपके आज समक्ष ।

( ५ )

“पथ के लिये मानिए मुझको एक बैल बल-बुद्धि-निधान—  
 अभी आपके पीछे-पीछे शीघ्र करेगा जो प्रस्थान।”  
 ऐसी बातें सुनकर पुष्कर गया निपघ-नायक के पास—  
 कपट-जाज में उन्हें फँसाने और विभव का करने नाश।

( ६ )

आता हुआ देख वांघव को नल हर्षित हो गए महान,  
 मिले बाँह भर-भरकर उससे, होकर खड़े किया सम्मान।  
 विछुड़े हुए बंधु को आया हुआ देखकर अपने गेह—  
 मन का मोद प्रकट करती थी रोमांचित हो उनकी देह।

( ७ )

कुशल-प्रश्न के पीछे उसने कहा निपघपति से, “भनुजेश !  
 द्यूत खेलने में है मुझमे हार गए सब-के-सब देश।  
 नहीं आज तक कहीं किसी ने पाया है जय मुझ पर तात !  
 है मेरे द्युप-पण को जीता नहीं किमी ने कभी बलात।

( ८ )

“इसी विषय में प्रभो ! आपकी द्रव्य प्रशंसा सुनकर आज—  
 आया हूँ मैं लेकर सारे द्यूत खेलने के ये साज।  
 या तो हार मानिए, यथवा आप खेलिए मेरे साथ,  
 घन न विलंज कीजिए, मेरी यही विनय है मानव-नाथ !”

( ९ )

कहा उन्होंने—“अब तक मैंने नहीं किसी से नानी हार ;  
 तुम ही कहते स्वयं ‘आपको है इस पर पूरा अधिकार।’  
 क्यों फिर स्वीकृत करूँ पराजय, यह न बुद्धिमानों की बात ;  
 समज है, मैं जय पा जाऊँ, और हार जाओ तुम तात !”

( १० )

इतने पर तो रोप दिया फिर उसने वहाँ कपट का जाल—

और विछाकर सुंदर चौसर लगा खेलने वह तत्काल ।  
कौन हटा सकता था उसको, छटा हुआ था पुष्कर क्रूर—  
और दूसरे उन पासों में भरा हुआ था छल भरपूर ।

( ११ )

वदने लगा चित्त में नल के अपनी जय का लोभ अपार ;

और साय में कुछ चिंता भी बार-बार निज द्वार निहार ।  
यह जीता, शय के जीतूँगा, फिर से खेलूँ अब की बार—  
उठने लगे हृदय में उनके इसी तरह के कई विचार ।

( १२ )

काम-काज को छोड़ खेलने लगे धूत ही वे दिन-रात ;

यी इसके अतिरिक्त न उनको अब्धी लगती कुछ भी बात ।  
भैमी उनको यों समझाती, “हे मेरे प्राणों के प्राण,  
धूत कभी मत आप खेलिए, है यह सब दोषों की खान ।

( १३ )

“नाथ ! जालसाज़ी से तुमको हरा रहा है पुष्कर दुष्ट ;

चालाकी प्रत्यक्ष देखकर थाप हो रहे क्यों संतुष्ट ?  
देकर ध्यान देखिए इनको, है ये पासे छल का मूल ;  
ये न अभी तक एक बार भी पड़े आपके हैं अनुकूल ।

( १४ )

“थाप महा धर्मात्मा होकर करते हैं यह निर्दित कर्म ;

सच्चे क्षत्रिय कहला करके छोड़ रहे हैं अपना धर्म ।  
सारे मंत्री, विप्र, महाजन, पुरवासी भी और अनेक—  
नीचे बैठे हैं, वे प्रभु से विनय चाहते करना एक ।

( १५ )

“पहले उनकी सुनिप स्वामिन् ! हैं वे उत्सुक दर्शन-अर्थ ;  
 है आवश्यक कार्य उन्हें कुछ, वे न यहाँ आप हैं व्यर्थ ।  
 कोपाध्यक्ष-पत्र तो पढ़िए, है जिसमें यह लिखा सुजान !  
 सारा कोप हो गया झाली, था जो धन-भण्डि-रत्न-निधान ।”

( १६ )

स्वामी के पद पकड़ ज़ोर से भैमी रोने लगी निदान ;  
 गद्गद धायी से फिर बोली—“सुनिप मेरी क्या-निधान !  
 धनुनय-विनय मानकर मेरी अब न खेलिए जूधा आप ;  
 बहुत हो चुका, अब न समय है देने का मुझको संताप ।”

( १७ )

इन बातों का कुछ भी नल पर नहीं प्रभाव पड़ा उस काल ;  
 क्योंकि देह-गत कलि ने उनका कर रक्खा था ऐसा हाल ।  
 उसकी नम्र विनय होती थी इस प्रकार से उनको ज्ञात—  
 मानो यह छ कहती है मुझको झूत खेलेने को दिन-रात ।

( १८ )

मंत्री-गण के समझाने से पड़ता था प्रतिकूल प्रभाव ;  
 कइना था वस लवण लगाना जले हुए पर करने थाव !  
 जैसे कभी न चिह्न्य घट पर स्थित रहता जल-विदु-प्रपात—  
 वैसे ही नल-हृदय-पटल पर नहीं उहरती थी वह बात ।

( १९ )

मन्त्र भीमजा के मय भूपण और अज्ञौकिक अपने शस्त्र—  
 हार गए नल, इससे रक्ते पण पर फिर अपने सब वस्त्र ।  
 तब भैमी ने धेष्ठ सूत को बुलवाया दासी के हाथ ;  
 सुनकर सारा हाल हो गया उसी समय वह उसके साथ ।

( २० )

उसने उससे यही कहा फिर—“प्राणनाथ के प्यारे सूत !

हे वाष्ण्येय ! देख ले तू भी महा दुष्ट पुष्कर-करतूत ।  
उत्तम अश्व जोड़कर रथ में ला जख्खी से वहाँ सुजान !

जहाँ खदे हैं सारे मंत्री हो करके अति शोक-निधान ।

( २१ )

“मेरी आज्ञा कहकर उनसे, परामर्श कर और निदान—

इन दोनों वच्चों को ले तू कुंडिन को कर जा प्रस्थान ।  
वहाँ रथादिक छोड़ इन्हें भी पहुँचा मेरे पिता-समीप—

यथाकामल कर काम वहीं, या और कही जा हे कुल-दीप !”

( २२ )

“जो आज्ञा”, यों कह रथ लाया मंत्री-आज्ञा को कर प्राप्त—

कुंडिनपुर की आर चल दिया चिंता से वह होकर व्याप्त ।  
वहाँ पहुँच उनको सगृहलाकर, ले भीमाज्ञा, जोड़े हाथ ;

थाप गया ऋतुपर्यं भूप के, था जो श्रेष्ठ अयोध्यानाथ ।

( २३ )

उधर क्रोध के मारे नल ने पूरी करने अपनी टेक—

रक्खे पण पर महा मनोहर हय, स्यंदन, गज, रत्न अनेक ।  
उनको भी पुष्कर ने जीता, रीता करके उन्हें नितांत—

कहने लगा विहँसकर उनसे करने को अवशिष्ट सुखांत—

( २४ )

“भूत खेलने का जो तुम्हको हे नल ! है अब भी कुछ चाव—

तो तू मन को दड़कर रख दे दमयंती का ही यस दाव ।  
या तू अपने प्राण बचाकर कर जा और कहीं प्रस्थान ;

यहाँ न होगा किसी तरह से अब कुछ भी तेरा सम्मान ।”

( २५ )

महा कठोर गिराको सुनकर कुपित हो गए नल निष्पाप,  
 किंतु दिनों का फेर देखकर रहना पडा उन्हें सुपचाप।  
 अपने थाप रह गई उनके मन की-मन में सारी यात;  
 बुझा चुका था कोप-वह्नि को क्योंकि महा विता-ब्रह्म-पात।

( २६ )

उसको उत्तर दिया न कुछ भी, किंतु राडे होकर उस काब—  
 चने गए मंदिर के बाहर निपथ देश के श्रेष्ठ नृपाब।  
 सुनकर भैषी के वचनों को, मान सभी अपना ही भूल;  
 कहने लगे—“प्रिये ! हूँ मैं ही इन सारे कष्टों का मूल।

( २७ )

“यना-यनाया यानिक विगदा, किष्-दराए पर भी धात्र—  
 पानी फेर दिया मैंने ही स्वयं सजाकर ऐसे सात्र।  
 पद्मदाने मे श्रम क्या होगा, पर कि चुग चुकी विदियाँ सेत;  
 तूटा ही पृथ्वर ने पत्र में परके मुझको धात्र अचेत।”

( २८ )

ए-क तद-परिप्रेक्षित नैरद करते हुए अनेक विचार—  
 अपने उगे नाम में अनुचित मदते हुए कष्ट का भार।  
 साधारण मादा की पदने, जोहर शोकादृशा मदान—  
 इनकी जाता थी उनके पीछे-पीछे उस प्रस्थान।

( २९ )

पार-पथ ११ प-४ रहीं या दूर दूर उन्नत-समान;  
 नर का नाम-रथाया उसको किंतु हो गया था दुष्ट मान।  
 उजो-कड़े पात काहर क रथा जोरता के अनिराम—  
 “आ-भो-क-न-१ नाथ ! दाय-भो-प-४-६ हुए मान परधान।

( ३० )

“भव-भक्तक वन क्या कर लेगा, जव रक्तक हैं अपने राम ;  
 वाम-नाश कर देगा उनका मुक्तिधाम-शुभ-नाम लज्जाम ।  
 चिंता आप वृथा करते हैं, व्यर्थ भीत होते हैं, ईश !  
 श्राय उदर में करनेवाला नहीं सो गया है जगदीश ।

( ३१ )

“जो भगवान् चोंच देता है वही चुगा भी देगा नाथ !  
 हर्ष-सौख्य देनेवाला ही दुःख पढ़े पकड़ेगा हाथ ।  
 राज-विभव, धन-धाम, धरा तो दो दिन के होते मतिमान !  
 नश्वर को कर नष्ट थाप क्यों करते हैं फिर उसका ध्यान ?

( ३२ )

“जो देता, वह ले भी लेता, देता है लेनेवाला ।  
 वही नाथ है लेनेवाला, जो सबको देनेवाला ।  
 हमें डुयानेवाला ही तो है हमको खेनेवाला ।  
 जनिता-सम ताड़न भी करता माता-सम सेनेवाला ॥

( ३३ )

“है जो नर को भूप बनाता, वही भिखारी करता है ;  
 महाशोक-चिंता जो देता, वही क्लेश को हरता है  
 नहीं दूसरा कोई जग में, कर्ता-धर्ता एक वही—  
 और वही है भर्ता-हर्ता, है यह विद्वक्तुज वात सही ।

( ३४ )

“होनहार से हार सदा है, इसकी लीला अपरंपार—  
 हार गले में कभी डालता, कभी छीनता यह आहार,

पर लो नर-वर मन में रखते जगदीश्वर पर हैं विश्वास—  
वे इसकी पर छ सभी कैचकर इस पर † को भी करते दास ।  
( ३२ )

“रोम-रोम में रमता जिनके है ब्रह्मांड-समूह अपार—  
स्नेह-सूत्र में बँधनेवाले हैं जो अक्षय करपागार—  
वे न लूठने कभी चाहिए, वस इसका ही रखिए ध्यान—  
थोर सभी लूठें तो लूठो, दूठो ‡ किंतु एक भगवान ।  
( ३६ )

“हो जावें प्राणारि भले ही सभी सभी भूतल-भूपाळ—  
रावज रचक हैं, तो अपना वे न करेंगे पाँफा बाळ ।  
हार-जीत होती है यों ही, करते हो क्यों इसका शोक ?  
सुख-दुख यों ही आते-जाते, इन्हें न सकता कोई रोक ।  
( ३७ )

“चिंता करने का न मनयई, रचो चिंता चिंता दित आप ,  
वही दुआ जो छिया भाग्य में, इससे व्यर्थ लनी संताप ।  
होनी तो होगी ही, इमनें वश किसका है रूप-निधान ।  
पीतां को ता भूज आप अथ आगे की मुघ जो गुण-दान !  
( ३८ )

“जगदीश्वर जो कृप करता है, उचम ही करता है, नाथ ।  
मुन देकर यह दुःख भोगना हमें तिछावेगा रक्ष माथ ।  
जो वद दया न वद दिन-राता, तो मुन-नदिना-नारिमा-अर्थ—  
रक्षिए, ईमे आप और में हो लकी थे आज मनर्थ !  
( ३९ )

“बाँधी दूइं मभा पाँों का भूज नाउकर रदना-गुड—  
मात्र उष्ट को नष्ट कोरिए हो काके रिता-भय-मुड ।

\* १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००



शोक-सहन की शक्ति-हेतु मैं हरि से करती विनय विनीत ;  
है विश्वास, करेंगे प्रभु ने आशा से न कभी विपरीत ।

( ४० )

"हे जगदीश्वर ! सब बतलाते नाम आपका दीन-दयालु—  
हम दोनो-से दीन कहाँ हैं, आज आप ही कहो, कृपालु ॐ !  
या तो कृपा कीजिए, अथवा छोड़ दीजिए अपना नाम ;  
फिर आप उसको न तर्जेंगे, हमें करेंगे सुख के धाम ।

( ४१ )

"किसी वस्तु की चाह नहीं है, और नहीं है क्रुद्ध भी आह !  
राज-पाट छिन जाने की भी हमें नहीं कुछ भी परवाह ;  
फिर आपकी कृपा-दृष्टि में नहीं कोप का हो आभास—  
बस इसके ही हम हृच्छुक हैं और यही हमको विश्वास ।

( ४२ )

"धन-दौलत हम नहीं चाहते, नहीं मोक्ष-हृच्छ्रा भगवान !  
पर हम दोनो हाथ जोड़कर माँग रहे हैं यह वरदान—  
प्रभु के पावन-पद-पद्मों का पीते रहें प्रेम-मकरंद—  
भक्ति-बंध से अंध-सदृश वन दोनो के मन-मधुप धमंद ।

( ४३ )

"धस जावे चाहे यह धरणी, फट जावे चाहे आकाश ,  
टूट पड़ें चाहे चपलाएँ करने आज हमारा नाश ,  
फिर हमारे मन-मानस से नहीं कभी भी इटना आप—  
होकर हंस तैरना उसमें जय तक रहे हंस † का वाप ।"

( ४४ )

भैमी की वाणी सुनकर के नर का चित्त हुआ कुछ शांत ;  
फिर अभी दुर्भाग्य-शत्रु का वे न कर सके थे प्राणांत ।

● संस्कृत में कृपालो होता है । † धर्म ।

पुष्कर-दुष्ट-धृष्ट-भक्ष्य से हमें जगोगा पाप महान—  
ऐसा मान तीन दिन तक वे रहे निपथ में कर जल-पान ।

( ४५ )

उधर बोल करके पुष्कर ने निज भ्राता का राज समस्त—  
धोर द्यूत-शस्ताचल पर कर नल-प्रताप-सविता का अस्त—  
घोर घोपणा यह कर दी थी—“जो कोई नल का सत्कार—  
कर्मों करेगा, तो है उसके दंड-हेतु शूची तैयार ।”

( ४६ )

ऐसी घोर घोपणा सुनकर सभी ननुज हो गए शधीर,  
घातनाद प्रारभ कर दिया भर करके नयनों में नीर ।  
नल को दया देल धितित ये निरध-देश उं सारे लोग,  
झोंके लगने लगे उन्हें फिर नल के बिना सर्व-सुख-भोग ।

( ४७ )

महाभय-रुद्र बुद्धाज्ञा से हाकर प्रिया प्रजा भयभीत—  
नहीं कर मनी साक्ष्य कुद भा करने का उसके विपरीत ।  
इससे नल का नहीं कहीं भी द्विनों प्रकार दुष्ठा सत्कार,  
मान-धोत्र का दुष्ठा निगदर, इति को पीजा थपरंपार ।

( ४८ )

गोपनीय ही रहना मरते मनोव्यथा को मन के घोष ;  
रूपको अज्ञ-मशहूर-जैसा जगता था यह पुष्कर नीच ।  
धौर-भाविना-भ्रम नथ पर में अश्रु पड़ते ये गुपचार ;  
कहीं इति नही धर मज पाछर उं अतिशय सजाव ।

( ४९ )

मन-नारा राजा को हाके दुष्ट फिर देने उगा मशन—  
के-म-मना को पुष्कर अतिरिक्त, इति-म-जना को अज्ञ-मान ।

योड़े ही दिवसों में उससे प्रजा हो गई सब प्रतिकूल ;  
शासन ही है क्योंकि नृपों के प्रिय-अप्रिय होने का मूल ।  
( १० )

उधर भीमजा नल दोनो ही शीघ्रतया चलकर दिन-रात—  
करके पार राज-सीमा को, तीन दिवस के फिर पश्चात—  
पहुँचे एक मनोहर वन में महाबुभुक्षा से हो व्याप्त—  
क्योंकि तीन दिन तक कुछ भोजन नहीं हुआ था उनको प्राप्त ।  
( ११ )

एक सघनघन-तरु के नीचे चढ़ाँ हो गए वे आसीन—  
और परस्पर लगे देखने अपना-अपनी दशा सुदीन ।  
नल ने कोमल दमयंती के पदपद्मों की ओर निहार—  
कहा यही गद्गद होकर के अति कायर सर के अनुसार—  
( १२ )

“मेरी महामूढता से ही चला गया है अपना राज—  
और उसी के कारण तेरी दशा हो गई ऐसी धाज ।  
लगती थी जिन मृदु चरणों को सरसिल-शय्या महा फडोर—  
हैं वे ही भूधरमय भू पर भोग रहे कष्टों को घोर ।  
( १३ )

“जिनकी धृति सित-मणि-श्रंगण की आभा को करती थी रक्त—  
कमल मानकर जिन पर अलि-कुल रहता था सदैव आसक्त—  
वे ही पद व्रण-युक्त हो गए इसमें किसका दोष निदान—  
प्रिये ! सर्वथा तू मुझ ही को इसका दोषी एक बखान ।  
( १४ )

“जिन्हें देखकर स्वर्ण-शैल भी पड़ जाता था पीत महान—  
और प्राप्त रसता को करता लज्जा से हिम-रशि-निधान—

वे ही ये उरोज देते हैं, आज शिथिलता का क्यों साथ ?  
जिनको ऊँचा किया, उन्हें तो करो न तुम नीचा हे नाथ !

( १५ )

“फिरते जिधर उधर ही करते जो कमलों की वृष्टि अपार,  
देवों को भी भला जिन्होंने कभी किया या चिंतागार ;  
ऐसे नेत्र हो गए लोहित महारुदन का सहकर भार,  
प्रभो ! कोप क्यों ऐसा करते होकर के तुम कल्याणार ?

( १६ )

“जो मुख चारु चन्द्रिका से भी बन जाता था मलिन महान—  
जिसको देख कुसुद होते थे दिन में भी शोभा की खान—  
उसे आज सतप्त कर रहा प्रीष्म-सूर्य-किरणों का जाळ—  
केर समय का कैसा पटका है मायावी त्रिभुवन-पाळ !

( १७ )

“जिसकी देह-दोषि के सम्मुख काम-कामिनी की भी क्रांति—  
फौजी पबकर वर्यक-मन में करती थी उत्पन्न अशक्ति—  
यही प्रभा अब मंद हो गई सहकर के कानन-संतार ।  
भजला को भी भला हम तरह दु स दे रहे भगवन् ! आप !

( १८ )

“अपिठ क्या कट्टे घट-घट वामा ! आज आपके दासी-दास—  
कैसे-कैसे कष्ट भोगकर क्षोभ रहे हैं यों निरवास !  
धो जो वाप क्षिपू हैं हनने, उनका फल देने हो आप—  
हमने क्या अपराध आपका, दोष हमारा ही निरपाप !

( १९ )

“प्रिये ! पिपठभे ! हे हमपंती ! तेरा देख सोऊ का मात्र—  
शिर धोवाउ ते शीघ्र सत्य वह टर्य फटा जाता है आज ।

\* निर-सदा मे बने क क देते का देय दु. ११ ६ ३११ ६४ तेरा हरय भी  
३३ ५ १ ६ ।

तेरी व्यथा देखने को ही रक्खा उस अदृष्ट ने दुष्ट—  
 अब तक मुझको जीवित प्यारी ! क्योंकि इसी में वह संतुष्ट ।”

( ६० )

नल के अश्रु पोछ सादी से कहा भीमजा ने—“हे नाथ !  
 कष्ट नहीं हो सकता कुछ भी मुझको इन चरणों के साथ ।  
 श्रावण के जन्मे को जैसे हरा-हरा ही हो आभास—  
 उसी तरह सर्वत्र आपको प्रभो ! दीखता दुख का वास ।

( ६१ )

“हे प्रिय ! मेरे निकट उपस्थित हैं आनंद-कंद जब आप—  
 आकर मुझे सता सकता है कहो कौन-सा तब संताप ?  
 हैं जो प्रभु को आज दीखते कहीं-कहीं चरणों में घाव—  
 नई नहीं हे नाथ ! बात यह, है इनका तो यही स्वभावः ।

( ६२ )

“स्त्री का हर्ष-शोक रहता है निज स्वामी-सुख-दुख के संग ;  
 स्वपति-विपति से कष्ट उसे है और सौख्य से महाउभंग ।  
 मेरे प्राण-दान से भी जो मिट जावे यह क्लेश अपार—  
 तो हे प्रियतम ! उन्हें हर्ष से देने को हूँ मैं तैयार ।

( ६३ )

“हे निष्पाप ! यही है विनती, अब न कीजिए अधिक विलाप ;  
 कायरता मन में न लाइए, पा करके कानन-संताप ।”  
 नल-मन में उत्पन्न हो गई इन वचनों से वैसी शांति—  
 जैसी कुमुद-हृदय में करती शरद-पूर्णिमा-हिमकर-कांति ।

---

● चरण तो चलने पर घेसे हो ही जाते हैं ।

( ६४ )

कई दिनों से नहीं मिला था उन्हें शत्रु का दाना एक,  
 फरती थी तल्पत्र हसलिये देह-व्याधियाँ चुभा अनेक।  
 नल ने कहा—“हँदकर प्यारी ! जाता हूँ मैं कुछ आहार,  
 क्योंकि प्राणियों का हसलो ही कहते सभी प्रधानाहार।”

( ६५ )

इतना कहकर लड़े हो गए, जाकर के उनसे कुछ बुर—  
 देता सुंदर एक सरोवर जल से भरा हुआ भरपूर।  
 तीव्र तृषा से आत्तें उन्हें बह ऐना ज्ञात हुआ अभिराम—  
 मानो धमर बनानेवाला है वह सुखकर-मुखा सुधाम।

( ६६ )

उमके बस शतलोकन ही से होकर के धम विगत नरेंद्र—  
 मन में कहने लगे—“यही है सर्व तोरु सुपना का फेंद्र।  
 है यह मोदानंददायिनी श्रेष्ठ यस्तुओं का मीनांत,  
 जाल-चक्र से बचा हुआ यह है सौख्यद नीरायण-प्रांत।

( ६७ )

“मैंने इसमें प्रथम क्रिया है मुक्त-मनापति का साचावहार ;  
 सभी प्रदर्शिनियों का मुक्तको यही दीगता है आहार।  
 शक्ति-रतकर-यस्तु-राशि की होती है यह सीमा ज्ञात,  
 इसमें यह आनंद भरा है, जिसे देखते मुनि दिन रात।

( ६८ )

“नयनों को प्रगल्भ कर मन में भरता है यह महाउन्नत ;  
 प्रियकों देण पगल क्षुति मुद से रोनापित होता है धंग।  
 विद भवि गन्-देजाग दिना-रूप रमता की होकर के प्राप्त -  
 इसको खोजना निर्मंगला-नृदि-देवु है इसमें म्नाप।

( ६१ )

“मीन-मकर-कच्छप-लक्ष्मण-सूत-शंकर-श्वेत-शरीर-समान—

इसकी नीर-विपुलता पर भी चिह्न प्रकट हैं महिमावान ।  
शिव के कंठ-सदृश ही इसमें पय पीने आते हैं नाग छ ;  
क्रीड़ा करते हैं प्रनष्ट कर भव्य मूर्ति-सम पद्म-पराग ।

( ७० )

“यमुना-सम तटस्य वृक्षों से हैं इसमें हरि † क्रीडासक्त ;  
नारायण के सदृश सदा ही हैं सय सुमनस इसके भक्त ।  
महारश्मेत होने पर भी यह है तमाल-छाया-से श्याम ;  
भीम-जंतु-संयुक्त-भयानक होकर भी है यह अमिराम ।

( ७१ )

“निर्जनता से यह नीरस है, पर एकात-सरसता-युक्त ;  
अलि-कुल-कलकल-सुललित-मुखरित है यह होकर शब्द-विमुक्त ।  
है तट-कदंब मलिन, किंतु यह अंतर निर्मल नीर महान ;  
यह रत्नाकर-समता पाकर है न चार-दश-रत्न-निधान ।”

( ७२ )

यों विचार करते-करते ही नज ने देखे तीन विहंग ;  
कनक-कांति को लजा रहे थे जिनके पक्ष घौर मृदु अंग ।  
“अरुण सूत की धरण्य प्रभा या स्वर्ण बना करके अभ्यास—  
विधि ने प्रथम किया है करने ऐसा अद्वज-सृष्टि-विकास ।

( ७३ )

“फ्या अरुणोदय ने दे दी है इनको अपनी शोभा पूर्ण—  
या इनकी रचना की विधि ने मरकत-मणियों का फर चूर्ण ।  
सब बातें हैं उत्तम, पर ये चार नहीं हैं, इसका खेद ।  
मुझे सुग्ध क्यों ये यों करते, है इसमें कुछ निरक्षय भेद ।

■ हाथी और सर्प । † श्रीकृष्ण और वानर ।

( ७४ )

“हो सचेष्ट जो कहूँ भला मैं इन छोटे विद्वानों का घात—  
 वरु मारे छद्म छ हाथ लगेगी, नहीं और कुछ होगी बात ।  
 इससे उचित यही है मुझको इन्हें पकड़कर किसी प्रकार—  
 पुर में जाकर बेचूँ, जिससे नली भाँति होवे आहार ।”

( ७५ )

उनकी प्राप्ति हेतु फिर नल ने किया वहाँ कुछ समय व्यतीत,  
 किंतु युक्तियों विफल हुईं सब, हुए विद्वग उनसे न गृहीत ।  
 शर सब तरह, खाल उन्हीं एक-मात्र अपना परिधान—  
 ठाक पशियों पर हा फेंका ध्यान-सहित फिर उसे निदान ।

( ७६ )

उस पट के पंखे हा पशी उड़े उमे भी लेकर साथ ;  
 मूढ़ रह गए विस्मित टांकर अपना-मा मुख ब्रिप नृनाथ ।  
 दीन अमानुस, दिग्गमन, उन भूस्थित नल मे चचन कडोर—  
 “कडोर” लगे विद्वगम उदहर उनको शाल कष्ट में धोर ।

( ७७ )

“हैं हम जानो अघ, मूढ़ नर ! आए धो हरने तप पाय ;  
 हमें नई अशुभा जगता / तुम्हें देखना आम सपाम ।”  
 गुन ऐसी धन-गर्वा जो नर होकर मन में मदा उवास—  
 पशों से लजा उरु अपनी आने लगे भीनधा पाय ।

( ७८ )

दिग्गमन होकर के उन में खगो ये ऐंमे निपयेत—  
 जानो ये अमानुस-गुह + ई अन्य महेत, दिग्गम-वेत ।

७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००.







101

१. मेरे ने जहाँक उदा जामजा मे सब हा १  
 २. दुर्गा मित्र भाजा की नगा विमान यह जहाँक १  
 ३. द दिया नदी से माहा का जामा नाग

पन्नाछन्न वहाँ होकर वे लगते थे ऐसे अभिराम—

मानो हरित कण्ड-परिवेष्टित वन के बीच रामल दलघाम ।

( ७६ )

या तजु-तेज-काति से उनकी प्रात-त्रात-रवि व्रीढामान ;

अग्निदेव की देह-प्रभा भी फाँको लगती तेज-निघाम ;

विष्णु के अथ भाग-सम चम-चम चमकरहा था उनका भाल ;

पौरावत के कर-समान थे बाहु-धंड अति रुचिर विशाल ।

( ८० )

ये शाभित यां रोम वक्ष पर धारण करके श्यामल राग—

वदन-कमल-परिमल से खिचकर आप अलि नाना वन त्याग ।

अथवा मुख-पूर्वोद्दु-वदय से शीघ्र वचाने अपने प्राण—

हृदय-न्योम से उतर रहा था माना त्रिभुवन-तिमिर महान ।

( ८१ )

या ज्वलत जठराग्नि तीव्र से पाकर कलि अतिशय सत्पाप—

तन से बाहर निकल रहा था अल-जल फरके अपने आप ।

अथवा हरि-सम दीर्घ वक्ष पर लग जावेगी कभी कुहटि ।

याँ विचार विधि ने ही मानो की थी कज्जल-रेखा-सृष्टि ।

( ८२ )

ऐसे नैपथ ने जाकर के कहा भीमला से सच दाख ;

देख दुर्दशा निज स्वामी की लगी बिलखने वह तष्काळ ।

उसने शीघ्र दे दिया उनको कर साक्षी का धाधा भाग—

और चिच को शात किया फिर कहकर वचन सहित अनुराग ।

( ८३ )

नल बोले—“जिसके प्रकोप से विभय-विहीन हुआ मैं आज—

प्रिये ! प्रेरणा से ही जिसकी चला गया है अपना राज—

उसने मेरा पीड़ा जोड़ा नहीं अभी तक है छवि - रोह !  
उत्तम उसे प्रतीत न होता घपना अक्षय, सखा स्नेह ।

( ८४ )

“प्राय-प्रिये ! दमयंती ! मैं तो सभी कष्ट सकता हूँ भोग,  
किंतु नहीं देखा जाता है तेरे साथ विपत्त-सयोग ।  
मेरे लिये असंभव है यह तुम्हे देखना दुखी महान,  
क्या है करना उचित तुम्हे अब कहता हूँ मैं वही निदान ।

( ८५ )

“है ये मार्ग ‘दक्षिणापथ’ के, इधर ‘अवन्तीपुरी’ विचित्र ;  
शेख दीपता श्चक्षवंत’ यह, ‘कौशलपुर’ है उधर पवित्र ।  
है अक्षलाधर ‘विष्वाचक्ष’ यह नदी ‘पयोष्णी’ वह जल-पूर्ण ;  
हैं वे तपस्वियों के आश्रम अंद-मूल बहु फल-दल-पूर्ण ।

( ८६ )

‘यद् ‘विद्वान्’ का मार्ग अर्ध का राजा तेरा पिता सुजान,  
जा इंद्रोपम है मूल पर, हाकर चंद्र-शक्ति-निपात्र ।’  
भैरों को कर अक्षय कहा यों नल ने दमने पारवार—  
और सदे दो-शहर उम-को मार्ग यतार कई प्रकार ।

( ८७ )

रोकर उसने पटी कहा फिर—‘दे मेरे शिष्य जीवन नाथ !  
घात जोड़ना चाह रहे क्यों घाप पञ्चदश मेरा हाथ ।  
इसप औरंग है अथ मे-ग, दुख वाले हैं सारे घंग ;  
हम मिहार को मोच-मोचकर नष्ट हो गई सभी उमंग ।

( ८८ )

“किन्तु यदि, इन राज्य, नपावित, मुध-पिपासा-घात, महान—  
पेमें ननु को प्राद यही पर, कहीं कर्कशी मैं प्रत्याज ।’

होने पर विश्रांत आपके श्रम को कर दूँगी मैं नष्ट—  
और मानसिक चिंताओं को शीघ्र कर सकूँगी परिभ्रष्ट ।

( ८९ )

“भगिनी-सम होकर के पत्नी कर सकती वन में शोकांत—  
सखी-समान बनाती है वह जोवन-धन के मन को शांत ।  
भोजन-समय उसी को करते मातारूपा शास्त्र बखान ;  
शयन-भवन में कहते उसको सुखदा मन्मथ-नारि-समान ।

( ९० )

“जाया-सदृश आर्त मानव के नहीं दूसरी औपध श्रेष्ठ ;  
फहती हूँ मैं सत्य आपसे, हूँसे मानिए श्रव हे प्रेष्ठ !  
मुझे चरण-वर्शन से वंचित कभी आप मत करना नाथ !  
हाथ जोड़कर यही विनय है मुझे सर्वदा रखना साथ ।”

( ९१ )

मल ने कहा—“प्रिये ! मैं तुम्हको यही दिलाता हूँ विश्वास—  
और वचन यह देता हूँ, तू सदा रहेगी मेरे पास ।  
चिंता करो न इसकी प्यारी ! थी यह एक हँसी की यात ;  
रखो हर्षित मुझे साथ में रहकर मेरे तुम दिन-रात ।”

( ९२ )

ऐसे प्रण को सुन दमयंती जाई फिर कुछ फल-दल-मूल ;  
जिन्हें किया भक्षण दोनो ने प्रीति-सहित, निज रुचि-अनुकूल ।  
पी जल अमल एक वट नीचे जिया उन्होंने फिर विश्राम—  
और सोचने लगे उचित है काना हमको फल क्या काम ।

( ९३ )

सुसा भैमी देख फंटकाकीर्य भूमि पर—  
निज को कारण मान प्रिया-रुष्टों का गुरु-तर—

---

● व्यथना से—तू मुझे नहीं, किंतु मैं ही तुम्हें जोड़कर चला जाऊँगा ;

सोचा नल ने लोड़ इसे मैं वन के घंटा—  
 किसी नगर में वाह कहूँ एकाकी जाकर—  
 ऐसा मन में ठानकर किया कार्य उनने यया,  
 सुनिप भव कर दद हृदय, हे आगे उसकी कया ।

---

## ग्यारहवाँ सर्ग

( १ )

दमयंती को देख प्रसुता निजंन वन में—  
भर नयनो में नीर विचारा नल ने मन में—  
“अल्प काल के लिये कष्ट को हरनेवाली—  
स्वप्नों में सम्राट् मनुज को करनेवाली—  
यह निद्रा भी धन्य है निज अद्भुत व्यवहार में—  
सार-रहित होकर बनी सार-सहित संसार में।

( २ )

“करती है यह सुखी थकावट तन की खोकर,  
मरती है यह नहीं मृत्यु की भगिनी होकर।  
सोती है यह नहीं सुलाकर असुधारी को,  
देती यह साहाय्य अंत में असुरारी को।  
सृष्टि-सृष्टि-घन-जन्म-द्वित है सहायिका वस यही;  
इसे ब्रह्म के साथ में जीवित वेदों ने कही।

( ३ )

“धान्य, धरा, धन, धाम, दास, दासी, दरबारी,  
माता, पिता, कुटुंब, मित्रवर, संपत्ति सारी,

---

● याग-निद्रा में विष्णु ही संसार की रचना का विचार करते हैं। जिस प्रकार मेषों से जल की बूँदों का सृष्टि होता है, ठीक उसी प्रकार विष्णु के विचारों से संसार की भी रचना होता है; जिसे कार्य-रूप में ब्रह्मा सत्ते हैं।

काम - कामिनी - सदा, सुंदरी, प्यारी नारी,  
हाथी, घोड़े, सैन्य और सैनिक यत्नधारी—  
हैं ये सब कुछ भी नहीं, मित्र जाती है आँसु बर,  
किंतु स्वप्न में अन्य ही दिखता है दृश्य तब।

( ४ )

“इसी दशा में पड़ी हुई है प्रिया हमारी—  
कई दिनों से भूख-प्यास की मारी-मारी।  
ऐसी सखी सती स्वपति को घन में तजकर—  
जा सकती है नहीं कभी भी और कहीं पर—  
दुःख में ही छोड़कर जाता हूँ इसको अभी,  
हे देवो ! अब थाप ही रफक है इसके सभी।

( ५ )

“पतिव्रता अपमान स्वपति का नहीं करेगी ;  
होकर ऊँचे वह सती सतीपन नहीं करेगी।  
ऐसा मन में मान तुझे मैं छोड़ रहा हूँ,  
बरबस मन को मोड़ वचन को तोड़ रहा हूँ।  
मिथे ! निरोगे फिर कभी, हरि ने जो मिलने दिया,  
या होगा परलोक में शीतल यह अपना दिया।

( ६ )

“करना मुझको जमा, क्योंकि मैं धीन धीन हूँ ;  
मेरा क्या अपराध, आज मैं बुद्धि-हीन हूँ ?  
आता हूँ निदामे ! मुझे तुम रहना मन में ;  
सबक सबक मन मदन में, सब में, सब में।”  
बदकर नर ये स्वन फिर भाषी आशी आनकर—  
निर्धन मन में थक रिष्ट निम प्रयत्न में नोर भर ।



( ७ )

जाकर के कुछ दूर दौड़कर नल फिर आए ;  
सुप्त प्रिया को देख चित्त में कुछ धवराप ।  
तीन बार यों किया मत्त-सम बनकर वन में ;  
अर्धरात्रि के बीच अंत में छिपे गहन में ।

वे अरुणोदय - आंति से लगे दौड़ने शीघ्रतर ,  
पर वह दावानल वहाँ फैल रहा था कष्टकर ।

( ८ )

वायुः-मित्र मे वायु मित्रता बढ़ा रहा था ;  
रक्त † हयों पर रंग और भी बढ़ा रहा था ।  
हव्य विना भी तृप्त हव्यवाहन होता था ;  
चूद्भानु ‡ वन गर्व भानु का वह खोता था ।

होता था यों ज्ञात तब, रही भूमि सबको जला—  
अपने तन की अग्नि को खींच-खींच करके भला ।

( ९ )

हरिणराज, गजराज, बाघ, भालू, मृग सुंदर,  
सर्प, शृगाल, थिडाल बहुत-से और व्योमचर—  
जल-विहीन पाठीन-सदृश अति व्याकुल होकर—  
घूम रहे थे मत्त श्वान के सम रो-धोकर ।

फई चढ़ गए भेंट थे अग्निदेव की पुष्पधर ;  
फई चूर्ण थे वन रहे हरे-भरे भूधर-निकर ।

( १० )

ज्वाला-जाल विशाल धधकता हुआ वहाँ पर—  
फई तरह के दिखा रहा था दृश्य भयंकर ।

\* अग्नि । † छपटे । लोहितारवो वायुसखा । इत्यमरः । ‡ अग्नि ।

होता था वह ज्ञात प्रलय ही मानो भाया,  
 आनन क्रानन और सभी कानन में छाया ।  
 संभव है पानीयमय अथ के वह होगा नहीं ;  
 पावकमय बन इसलिये फैंज रहा है हर कहीं ।

( ११ )

मुझको परिचित पुरुष नहीं कोई पहचाने,  
 साधारण ही मनुज मुझे जन सारे जानें ।  
 पुष्कर के भी दूत नहीं नल मुझको माने ;  
 दमपंती भी देख मुझे कुदु और बखाने ।  
 ये छ सचेष्ट यों सोच नल बन को देने के लिये—  
 निज प्रताप की अग्नि को फिर से लेने के लिये ।

( १२ )

अथवा पति-विरहाग्नि भयकर तन धारणकर—  
 दूँ रहा था भीन-मुता का बन के अंदर,  
 क्योंकि महान उदार उमा का हृदय मुकामल—  
 रस सझता था उसे पत्रजत बनकर कैवल ।  
 इस कठार, अति मृदु न ली मती-हृदय का धन्य है—  
 पाठक ! मपक ज्ञान में ऐसी वस्तु न अन्य है ।

( १३ )

राजानन को निश्चिंत देना बिना थी नज को ;  
 युग वनान के बिना रहे थे उस पत्रव्यज का ।  
 मुने बन्दोने मन्त्र—“उदायो, मुझे ब्याधो,  
 मेरी रक्षा करो, ही नख । काआ-जाओ ।

● नल नरेश —“इ नरेश अनी नरेश नरेश के इव  
 हैं, मर दूत नरेश नरेश नरेश नरेश नरेश नरेश नरेश  
 नरेश नरेश नरेश नरेश नरेश नरेश नरेश नरेश नरेश

दिल सकता हूँ मैं नहीं, जल जाऊँगा इसलिये—  
शरणागत हूँ आप फिर, यहाँ खड़े हो किसलिये ?”

( १४ )

“बोल रहा यह कौन” विचारा नल ने मन में—  
“आईं ऐसी गिरा कहाँ से निर्जन वन में ?  
भैमी के अतिरिक्त मुझे अब कौन जानता ?  
हैं ये उसके शब्द बात मैं यह न मानता ।  
तो भी मेरा इस समय आगे बढ़ना कर्म है ;  
शरणागत का त्राण भी कर्मवीर का धर्म है ।

( १५ )

“सता रहा है अग्नि दीन का चत्रिय-सम्मुख—  
धिक् है मेरा देह और यह धिक् जीवन-सुख ।”  
ऐसा कहकर बढ़े बद्धि की ओर उल्लङ्घनकर—  
देखा अपने पास एक फिर माँपण अलगर,  
किंतु उठा सकते न थे वे उस गुस्तम नाग को—  
और बुझा भी वे नहीं सकते थे उस आग को ।

( १६ )

नल की दशा विलोक सप ने मुख को खाला—  
महाकठिनता-युक्त वचन थे उनस बोला—  
“होता हूँ अगुण्ड-मात्र मैं अभी यहाँ पर—  
उठा जीनिष् निपध-नाथ ! अब मुझे शीघ्रतर ।  
मैं कर्कोटक नाग हूँ नारद के अभिशाप से—  
भाग रहा हूँ कठिन फल पूर्व बन्ध के पाप से ।”

( १७ )

सुनकर ऐसे वचन उठाया उसको पल में ;  
दौड़ दाव से गए दाव से वर्जित स्थल में ।

कहा नाग ने—“चलो पदों को अपने गिनकर—  
 बिससे कहेँ उपाय तुम्हारे जिये कष्टहर ।”  
 सुन सुखदायक वचन ये जब नल ने वैसा किया—  
 तब ठनको नागेंद्र ने दसवें पद पर बस जिया ।

( १८ )

बसते ही वन रूप-हीन वे दुखी हो गए ।  
 विष-पावक का ताप सहनकर वहाँ सो गए ।  
 कहने लगे—“अकाल मृत्यु को कौन खो सके ?  
 दमयंती से मिलन कभी भय नहीं हो सके ।  
 रे हत्यारे ! क्या किया तूने मेरे साथ मैं ?  
 रे हतन ! क्या आ गया है अब तेरे हाथ मैं ?

( १९ )

“नरता हूँ दनयति ! भीमजे ! लतने ! प्यारी !  
 मुझ-सा नीच न करों और तुम्ह-सी बर नारी ।  
 जैसा मैंने किया पा जिया वैसा फल भी,  
 मुझे न देगा आज मृत्यु पर कोई जज भी ।  
 किया तरङ्ग भी भेंट भय हो न सके तुम्हमे यहाँ ;  
 तू तो जाने है कदा, और प्रिये ! मैं हूँ कदाँ !

( २० )

“मेरी बिना कभी स्वप्न में जो मत करना—  
 क्योंकि किसी के हाथ नहीं दे जीना-मरना ।  
 मुझे मृत में लाज यदा है मेरा बहना—  
 बड़े प्ये के माय सभी करों को महना ।  
 कर उन दोषों को गताई जो दृष्ट मेरे किए—  
 रे तू अब मुझकर प्रिया, गदा मरुदा के जिये ।”

( २१ )

व्या-भरे सुन वचन कुँहली कुछ-कुछ हँसकर—  
 बोला—“मेरी बात ध्यान से सुनिए नृपवर !  
 क्यों करते हैं शोक आप धन मेरे रक्षक—  
 क्यों हरते हैं सुयश यताकर मुझे स्वमघक ?  
 जैसे तुमने प्रेम से प्राण-दान मुझको दिया—  
 वस मैंने भी आपका है वैसे ही हित किया ।

( २२ )

“मेरा यह विप विपम कई उपकार करेगा ;  
 तनुवासी कलिदेव-सौत्य को नित्य हरेगा ।  
 तुम पर गरल-प्रभाव किसी का नहीं पड़ेगा ;  
 शत्रु तुम्हारे शीघ्र सामने आ पछड़ेगा ।  
 यह कुरूप करके तुम्हें दुःख कभी देगा नहीं ;  
 पहचाने जिससे न जन तुमको कोई भी कहीं ।

( २३ )

“देता हूँ दो वर, पहनना इनको तब तुम—  
 अपना असली रूप दिखाना चाहो जब तुम ।  
 शोकाकुल मत फिरो भटकते हुए यहाँ पर ;  
 रहो समुद्र ऋतुपर्णा-निकट ही अब तुम जाकर ।  
 यह साकेत-नरेंद्र ही सय दुःखों को दूरकर—  
 तुम्हें अक्ष-विद्या-निपुण कर देगा हे भूपवर !”

( २४ )

यों कह अंतर्धान शीघ्र फिर नाग हो गया ;  
 नल का भी कुछ शोक हृदय से स्वयं खो गया ।  
 किंतु भीमना-चित्र सुचित्रित था जो मन पर—  
 आता था वह वार-वार नयनों के अंदर ।

फानन में सोती हुई दीन सता के वेश में—  
उन्हें दीखती थी भला भैमी गहन प्रदेश में।

( २५ )

भू पर फैला हुआ सुमनगण्य से कुछ ठककर—  
झटा-जाल यो उन्हें खूब जगता था सुदूर—  
मानो पहने हुए अर्ध साधो को तन पर—  
सोती है प्रियतना अकेली वन के भीतर।  
कभी-कभी ये खिपकर लोल लता के जाल से—  
अधु बहाते थे बहुत टोकर के गेहाज-से।

( २६ )

ठरु - छाया - तम दूर - दूर स देख-देखकर—  
सृग - नृणा में फँसे हुए सृग - सदय शीघ्रतर—  
दौड़-दौड़कर बहुत यही कहते थे वन में—  
“ठहरो-ठहरो, पना करो, जाया निच मन म—  
या न बिरोरा तबह में शिराहदो को हे प्रिये!  
यद सभ इधु परिहान या चिता हरने क खिये।”

( २७ )

आहत से जा गृणी दौड़कर आगे आती—  
ता ब्रह्मन में आग देख उमड़ा जड़ जाता।  
कहने थे वे—‘उद्धर-रूद न कभी दुरगा!  
अथ काह पयंत और वन यही गुरंगी,  
दर नूने नैना-नयन देग त्रिप र जा यही—  
गो नृगृह या मादगा दाह क कल्पित यही।’

( २८ )

मुद्गर धर से देख अद - द. विच भनाहर—  
को फल - नृग मंग - नरहित - कपित होकर—

यों लगता या उन्हें प्रिया जल-केलि कर रही—

गल तक जल में डूब विरह का ताप हर रही ।

कहते थे वे इसलिये—“प्राण-प्रिये ! अब बस करो—

विरही पति के उष्ट्र को निज दर्शन देकर हरो ।”

( २६ )

चक्रवाक को देख अनेका विवाह-सुपीडित—

वे निज को धिक्कार रहे थे होकर लजित—

“देखो, सग भी प्रिया विना दुख कितना सहते,

अधिक फाल तक कभी वे न एकाकी रहते,

किंतु कहेगा सबज नर कौन मुझे संसार में—

आया है जा छोड़कर अचला को मरुधर में ।

( ३० )

“पुष्पों को भी प्रिया विना मरना भाता है,

देखो नीरज-निकर फल कितना पाता है,

क्योंकि नहीं है मित्र-कीर्ति इस समय यहाँ पर—

है इसप यह बंद पूण जल से भी टोकर ।

पर मैं भैरवा से भला कई कोस अग दूर हूँ,

तो भी मैं मरता नहीं हा ! कैसा मैं मरूँ हूँ !!

( ३१ )

“सच है, मेरा हृदय वज्र से है कठोरतर—

कर सकता है तभी कार्य वह महा भयंकर ।

निर्जर-योग्या, श्रेष्ठ सती, ऐसी जलना को—

सहसा ही यों सौंप वृथा से आज धरा को—

हा ! उसने† यह क्या किया, बलधारी होकर भला—

निर्जन वन में वेग से आया है वह यों चला !

● लक्षणा से सूर्य-ज्योति । † मेरे हृदय ने ।

( ३२ )

“घन के सिंहो ! नींद छोड़कर धाधो-धाधो—  
इस पापी की दुखी देह को खाओ, भाओ।  
हे ! गजराजो ! दूर, दूर से क्यों चिंवावो—  
इस विमूढ़ को शीघ्र यहीं पर आओ, फाओ।

हे सपों ! दसकर उसे छ सुयश और अति पुण्य जो ;  
सती सताने का यही उसको अब उपहार दो।

( ३३ )

‘फट जा तू आकारा ! और प्राणों पर छा जा,  
धर-धरर कर धसक धरा ! तू मुझको खा जा।  
धा जा प्रलय-समीर ! शून्य में मुझे उड़ा जा।  
धा जा नारधि-नीर ! मुझे मरुधर दुग जा।

भस्म मुझे कर तेज तू तीव्र तेज अपना किए—  
में अराधी हूँ बड़ा, छाया हुआ तेरे बिने।

( ३४ )

“हृन्देव ! निज उग्र शीत पर मेरे टालो ;  
कर दो मेरा चूर्ण यहीं पर हे विवपानो !  
वायुदेव ! अर नाश-हेतु क्यों डेर लगाओ !  
प्रापक ! हे अग्निदेव ! तुम तो आ जाओ।

जाओ खोचन प्ररूप कर, यदय ! भाप निज पाश को ;  
तदप-कुधर्मों को दग्गे, घोट करण इस खास को।

( ३५ )

“धृ ! तुम्हारा नाम, मुधापर गूठ मरासर ;  
बड़ा है हा तापें करंकी, लूटे थे पर।



क्योंकि आप विष-वृष्टि हर्ष से करते मुझ पर—  
निज फिरणों का जाल काल के सम फैलाकर ।

गौरी-पति-पूजित प्रभो ! मेरे प्राणों को हरो ;  
दितकारी होकर भला, भला आज मेरा करो ।

( ३६ )

“अर्ध-रात्रि के बीच आप ही मेरे रक्षक ;  
कर सकते हैं लाभ आप वन मेरे भक्षक ।  
अंधकार है जहाँ, सघन-घन-तरु-वर-कारण—  
वहाँ फूँकिप मंत्र आप अब मुझ पर मारण ।

थो जाँ जीवन की जड़ी, वही साथ में जब नहीं—  
तो रखना चाहूँ प्रभो ! जीवन भी मैं अब नहीं ।

( ३७ )

“कोचर छ, कोक, उलूक और चमगादड़ भींगर—  
जंबुक-सह मम मृद्यु-गीत गाते है सुंदर ।  
मुझ-जैमे ही चौर फिर रहे कहीं-कहीं पर ;  
दुष्ट जनों को सता रहे हैं स्वप्न भयंकर ।

सज्जन चिंता-हीन वन सुख की निद्रा सो रहे ;  
कुलटाथों की कापरूप कहीं बाट हैं जो रहे ।

( ३८ )

“कहीं-कहीं पर मग्न ध्यान में स्थित है योगी ;  
मंत्र-जंत्र को सिद्ध कहीं पर करते जोगी ।  
कहीं-कहीं निःश्वास ले रहे दुख से रोगी ;  
भोग रहे हैं भोग कहीं पर लपट-भोगी ।

पशु-तरु-खग-मनुजादि पर, स्वर्ग-लोक की शक्ति-सम—  
निद्रादेवी छा रही और गहन में गहनतम ।

( ३६ )

"है सदैव यह 'काम' छ बुद्धि को हरनेवाला,  
मानव-मन में भाव भयंकर । भरनेवाला ।  
होकर इसके वर्य तृप्त करने को ली को—  
मृतक-देह पर बैठ तैरता पुरुष नदी को ।

लया रस्ता मान वह वर्षा-भीषित नाग को—  
चढ़ जाता प्रिय-नोद पर दिखलाने अनुराग को ।

( ४० )

"जो भय-भीता महा शिखा-नय से हो जाती,  
देव सिद्ध का चित्र बुद्धि । जलकी खो जाती ।  
ऐसा रमणी पचराण के याग सहन कर—  
न्या-न्या करती नहीं समय यह पाकर सुदर ।

प्रिय से मिलने के लिये वह सब कुञ्ज कर शालती—  
खोरु-खान का, धन का नहीं जरा भी पावती ।

( ४१ )

"कैसा है यह मनष शक्ति-कर, नोद-विधावक ;  
देता ? नयन-मध्य ज्वि रजनी-नामक ।  
उत्तर में सतर्पि और जुव दनक रहे हैं ;  
परिम में गुरु-गुरु तेज से चमक रहे हैं ।

अर-पती मा इष्टि में पति मस्मुग है आ रही ।  
नन-गंगा नन-मध्य में कैसा आभा पा रही !

( ४२ )

'धन-धन कर-कर अहो ! कराही गारे अनुपम—  
हामे से कति दूर आन होने है अनुपम ।

क. ३६२१ । १-१२१ । ३-३० । ४-३० । ५-३० । ६-३० । ७-३० । ८-३० । ९-३० । १०-३० । ११-३० । १२-३० । १३-३० । १४-३० । १५-३० । १६-३० । १७-३० । १८-३० । १९-३० । २०-३० । २१-३० । २२-३० । २३-३० । २४-३० । २५-३० । २६-३० । २७-३० । २८-३० । २९-३० । ३०-३० ।

करते हैं ये प्रकट महामायामय-माया—  
दूर-दूर से दिखा-दिखाकर अपनी काया ।  
दीख रहे आकाश में ऐसे-ऐसे हर कहीं—  
चंद्र, भूमि यह भानु भी जिनके सम्मुख कुछ नहीं ।

( ४३ )

“देख रहे हैं मुझे व्याम से सारे निजैर—  
मैंने सम्मुख किया इन्हीं के पाप भयकर ।  
यी जो सच्ची सती उसी को धाज सताया,  
मैंने भी बन पुरुष, भजा पुरुषार्थ दिखाया ।  
ध्याया का यह खेल सय हो न देव-माया विना ;  
काया मेरी व्यथं हूँ जीवित उस जाया विना ।

( ४४ )

“हाय ! हुआ सो हुआ, शोक अब क्या है इसका ;  
जब उसको ही तजा सौख्य था मुझका जिसका ।  
सच्ची हूँ यह बात, गात्र भी साथी किसका ;  
होनी हो , पर मनुज समाश्रय लेते मिप का ।  
प्रभा ! कठिन-से-कठिन भी कष्ट मुझे देना सभी ,  
पर तुम मत करना उसे ❀ दुखी स्वप्न में भी कभी ।

( ४५ )

“अहो ! पूर्व की ओर लगी फिर से दावानल ;  
पलट रहा संसार सामने मेरे पल पल ।  
अथवा प्राची दिशा तनिक-सी पीत हो गई ,  
या मम लोचन-ज्योति बुद्धि के साथ खो गई ।  
अथवा यह ब्रह्मा-रचित कोई नवल प्रकाश है ,  
या यह कोई देव के मुख का तेज उजास है ।





कहा—“राजराजेंद्र ! नहीं घावन यह अनुचर—  
पथिक-सहायक नहीं, किंतु है यह प्रभु-किंकर ।  
निज चरणों में वीजिण आश्रय इसको आप अब—  
यह मेवक तैयार हैं करने को आदेश सब ।

( २४ )

“बाहुकृच्छ्र मेरा नाम, घाम है मेरा वन में ।  
दग्ध वाजि का शब्द अभी सुन गहन गहन में—  
रहा न मुझसे गया, दौड़कर इससे थाया—  
हो सकती है ठीक अरब की मुझसे काया ।  
क्योंकि नहीं मुझ-सा कहीं हय-विद्या में निपुण नर ।  
घनी परीक्षा कोजिण, आप भले ही भूप-धर !

( २५ )

“पाक - शिल्प - सपत्ति - शास्त्र का मैं ज्ञाता ;  
मुझ-सा सारथि नहीं रथि में फोड़ूँ थाता ।  
महा कठिन - मे - कठिन कार्य भी मैं कर सकता ,  
पशुओं के रोगादि मग्न मैं हूँ हर सकता ।  
इसमें मुझको गरमा रों, शरणागत हूँ आपका ;  
नाथ कीजिए नाथ ! अब मेरे मन इ ताप का ।”

( २६ )

मुनदर बाहुकृच्छ्रिनय, गरम इव मन में होकर—  
बाजा फिर ‘अतुरथं’ उगे ये पथन गजादर—  
“हे नर-नर ! तू दुष्ठा आज मैं सारथि मेरा—  
मुझा पृष्ठ महत्व हो गया येनन मेरा ।  
कीजिए तू अपना दिना, शरथ अरब का अब अर्थी ।  
जिमसे वे कीजें हा तूसे सारथि हों सभी ।”

१. नर-नर न इयथा २. तू ३. अरब का ४. अर्थी ५. हों सभी ।

( ५७ )

भूपाद्या कर प्राप्त, जड़ी - बूटी कुछ छाकर—  
कूट - फाटकर उन्हें, सभी अश्वों को पाकर—  
जोता रथ में उन्हें, सूत को और जगाया—  
दोनो को रथ-मध्य विनय से फिर बैठाया—  
वेगवान सबको किया. पीड़ित को पीड़ा-रहित ;  
देख महा जव को हुआ हर्षित नृप सारथि-सहित ।

( ५८ )

रथ-रव से ही गया निनादित कानन सारा ;  
चहने लगी विचित्र व्योम में ध्वनि की धारा ।  
रज के मेघ महान लगे उड़ने उस वन में ;  
भय अतीव उत्पन्न हो गया प्राणी-मन में ।  
विह्वल व्याम में चढ़ गए फर-फर करते भीति से ;  
जलचर ढरने लग गए, थान चला इस रीति से ।

( ५९ )

होती थी जो दूर दृष्टि-गत वस्तु वहाँ पर—  
हो जाती थी पृष्ठ-भाग में वही शीघ्रतर ।  
पादप, पर्वत, भूमि साथ में सब चलते थे ;  
स्यंदन - वेग विलोक देव भी कर मलते थे ।  
श्रौपथ-मथ-प्रयोग से स्वेद-कणों के जाल में—  
फँसते थे अश्रात हय, किंतु नहीं उस काल में ।

( ६० )

महा मुदित ऋतुपर्ण वाण्य को तान कान तक—  
उसे सिंह पर छोड़, बना फिर उसका मारक ।  
शर-विद्या-चातुर्य दिखाया निम्न धर्म को ;  
प्रकटित उसने किया वीर के श्रेष्ठ कर्म को ।

क्योंकि कुटिल उस सिंह ने यत्न निरंतर थे किए—  
एक दुपंजा गर्भिणी हरिणी के अशु के लिये ।

( ४१ )

स्वदन-रथ से चौंक और उठ फरके ऋट से—  
उड़ी ध्योम की शोर गार कर सर के तट से—  
निज अर्धों ने छाड़ एक जब इसी विह्वल—  
सूषणदृष्टि तब एक चत्ता पीठे से अत्रिक्रम ।

उसको मारा भूप ने महा निपुणता से वहाँ ;  
त्रिससे पक्ष में ही सका उस दाना का चय नहीं ।

( ४२ )

यों गृगवा-जानुर्य दिग्गता हुआ भूप-वर—  
पहुँच गया फिर समुद्र पुरी के बीच शीघ्रतर—  
बाहुओं को अन्वेष हथों का वहाँ बनाया—  
और उस अति वृष देव मन में दर्पाया ।

नियम-नियम-अनुसार वह राज-कार्य करने लगा ;  
अरिषों का संहार कर प्रजा-भ्रष्ट हरने लगा ।

( ४३ )

रथ के मदारथ में उठी जब जाग-र नख की निवा—

तब तथा दुई उम को दूसा, तथा-तथा पहा उसने किया ।  
कैमो हथे महीनी पहा यों मानमि-क-कामिक भवथा ;  
पदित उभे भा त्वान न, यामे हुआ का है क्या ।



## बारहवाँ सर्ग

( १ )

अमल कमल में कमल खिल रहे कमल-बंधु की काति निहार—  
जलचर, यलचर और व्योमचर करते थे जब सभी विहार ।  
कोरु-गोक ही शोक-मन था, कोक-लोक था शोक-विमुक्त—  
करता था कल-शक्ति-कुल-फल-नव, थे जत्र कलरव कलकल-युक्त ।

( २ )

सुजन-सुमन-मम स्वच्छ सुमन-गण देता था शोभा जिस काल—  
था जन-मन में मोद मर रहा, कुमुद कु-मुद तब थे वेहाल ।  
शंभकार-भंहार-कार भी पवन काति-जय-हार विचित्र—  
लोक-मित्र बन व्योम-विहारी उदित हो रहे थे जब मित्र छ ।

( ३ )

खिल - खिलकर हँसती थी प्राची धारणकर पट पीत पुनीन—  
देख इस को हंस - वंश - सह पची नव गाते थे गीत ।  
था प्रसून - मकरंद - पानकर मद-मद चल रहा सभीर—  
द्विज-पति-पत्नी †-सह जब द्विजपति थे श्रीरत, थे द्विज ‡ गंभीर ।

( ४ )

था दिनकर-रु-निधर कर रहा नभ में जब खग-सम प्रस्थान—  
बढ़ता जाता था जब उसका सुंदर-सुखद प्रकाश महान ।  
कहीं-कहीं था शोक छा रहा, कहीं-कहीं आनंद अथाह—  
धौर चित्त में भरा हुआ था एक तरह का जब उत्साह ।

● सूर्य । † कुमुदिना । ‡ आक्षय्य नित्यकर्म सध्या-ध्यानादि के कारण ।

( १ )

पमे सुखद समय के पहले भैसा होकर स्वप्न-विलीन—  
रैल रही था प्राण-नाथ को बैठे हुए दशा में दीन ।  
शाक हो रहा था यह उसको, फाट रहे थे मेरा वस्त्र,  
खिन्नु फटाँ म हाथ लगा है वन में इनके ऐसा शय ।

( २ )

धरं-भाग साझा का लेकर ठीक गए ज्यों नल सुविक्रम ?  
पीढ़े भजा लौट ज्यों थाए, क्यों गिरता यों लोचन-जल ?  
इनकी दृशा हो रही कैसी, येधनी बढ़ती पल पल ?  
ये मामल की धोती स क्यों रोते हैं आँखें मल-मल ?

( ३ )

मधु है, ये धुम-यासि हित उस कानन में जाते हैं,  
गिर पीढ़े धाते जब शूनयो नहीं फूल-फल पाते हैं ।  
दिगु नहीं घर के बाए हैं, कहीं गए हा ! जीवन-धन ?  
धनमायी ! धतवा, क्या पाने जनक-वदन है वन में धन ?

( ४ )

तुभा रहे हैं दामनक का, निभा रहे हैं धत्रिय-धर्म—  
बधा रहे हैं एक मपं का, धना रहे हैं अरुणा-गर्म ।  
दर-नर न नभा दामनक में दर निर्यत जोतों का प्राण—  
महा ! धर्म के अरुणा मो यों नभा रहे हैं रन धमसान ।

( ५ )

'अथ नन्व, रात्रे का माभा,' अरुणा यो १६ गां मरु,  
किंतु नहीं यह इत मरुती या, यही जगें या केज अरु ।  
अरुणा या है अदि अरुणा, दिगमरुता या दरव यवाए—  
अरुणा अनाम देतो इन पर नहीं इमान या अदिद्वार ।

( १० )

जो करना चाहे तब उसको नहीं मनुज करने पाता—  
तब उसका जागृत जीवन भी स्वप्न-तुल्य ही हो जाता ।  
इससे जागृति और स्वप्न में उन जीवों के भेद नहीं—  
जो केवल कहते ही रहते, कार्य-पूर्ति करते न कहीं ।

( ११ )

शुद्ध विचार प्रथम हों अपने, तो उनका ही स्पष्ट बखान—  
मुख से जो कह दिया उसी की पूर्ति-मात्र का हो फिर ध्यान ।  
जो मन में है, तो वह मुख में, और वही हो कार्याधार—  
सबो जागृति यही, स्वप्न वह, है जिसमें न हमें अधिकार ।

( १२ )

करके कहना, कहकर करना, विना कहे करना उत्तम,  
किंतु नहीं करना कह करके, कैसी है यह बात अचम ?  
निद्रा में इन सब बातों का रहता है न किसी को ज्ञान ;  
करना और नहीं करना भी हैं दोनो ही वहाँ समान ।

( १३ )

स्वप्नावस्था में दमर्यती काम नहीं कर सकती थी ;  
आँख खोल उठ करके अपना कष्ट नहीं हर सकती थी ।  
अवलोकन - अधिकार - मात्र ही था तब उसको दिया गया—  
और एक उरगी-सम उसको मंत्र-बद्ध था किया गया ।

( १४ )

सुनकर रथ का शब्द उठी वह आँखें मलती हुई अघोर—  
और जँभाई ली फिर जिससे भर आया नयनों में नीर ।  
यों करने से सुदरता का सागर बढ़ा और दो हाथ—  
किंतु घट गया शीघ्र नहीं था क्योंकि वहाँ नल-विषु का साथ ।



( २० )

हा! हा! प्रियतम! शब्द-गर्जना हुई तनिक वर्षा परचात ;  
दंत-दीप्ति की दीप्त दामिनी लगी दमकने फिर अवदात ।  
मूर्च्छित विधु-वदनी भैमी के कोमल-कुंचित, काले केश—  
बिखर-बिखर करते थे मुख का अलि-कुल-युक्त कमल-सम वेष ।

( २१ )

अथवा वे कहते थे—“आओ - आओ, ज्योतिष - विज्ञ - समाज !  
पूर्ण-चंद्र के दर्शन कर जो ठीक अमावस्या है आज ।  
तुम झूठे हो, हम सच्चे हैं, सही करो अपना पंचांग—  
कर-कंकण को नहीं आरसों, लखो कुहू में विधु पूर्यांग ।”

( २२ )

मूर्च्छा से उठकर भैमी ने फूट - फूटकर रुदन किया ;  
दुःख - शोक - आश्चर्य - भार से फिर उसका दब गया हिया ।  
होकर वह चुपचाप वेग से लगी दौड़ने कानन में—  
होता था यों ज्ञात नहीं है जिह्वा उसके आनन में ।

( २३ )

महा शोक से पगली होकर फिरती थी वह चारी ओर ;  
घारंघार भयंकर वन में आर्तनाद करती थी घोर ।  
सिंहों ने सम-दुःख दिखाने किया गर्जना का भी त्याग—  
और नोरचर-मानस में भी धधक उठी चिंता की आग ।

( २४ )

देख पपीहा ने फिर उसकी पी-पी करना छोड़ दिया ;  
और नाचने में निज मन को सोरों ने भी मोड़ लिया ।  
मृग-शावक, मृग, मृगी और पशु, इन सबने उपवास किया ;  
उन दोनो छ के दुःख से उनका मुलस गया था मृदुल हिया ।

\* प्रथम नल का, परचात दमयती का विलाप नुनने से ।

( २८ )

मंजु नदीरूढ़ उसे देखकर महा दुखी बन जाते थे—  
 फूल-फूलों के मिय से मानो आँसू कई गिराते थे।  
 बड़े-उठे फूलों की चेलें ज्ञात इस तरह होती थीं—  
 मानो वे भी उसे देखकर फूट-फूटकर रोती थीं।

( २९ )

धे जन में पिछार रहे सग निदंय नल को चारंवार ;  
 शोक-मग्न थे सभी, नहीं था पर उपाय भैमी - सुखकार।  
 देन उसे दयनीय दशा में धरता था वन भी मत्ताप—  
 भैमा-भारतनाथ की प्रतिभ्यनि था मानो वय विपिन-विनाप।

( ३० )

“इहो वीरन - धन ! कइँ गण तुम, हा भियतन ! हा प्राणाभार !  
 मेरे दिने यहाँ क्यों छोड़ा विरह - कष्ट का पाराधार !  
 यात-चार में मिनय का रही, धन न करो, जा यह परिहास,  
 रसो न दोगे सोय मुझे तुम यह मुन्को पूरा विरहाप।

( ३१ )

“धिये दुष्ट हा इन निदुष्ट में, उइसो-उइसा धाना हूँ।  
 नदी यहाँ पर भी तुम निजों और कइँ भय जाती हूँ।  
 क्या धनताः दिया है मने, मिनयें मेरा स्वाग दिया ?  
 क्या उइसा इ धिया दुसा मिय ! जानव तनु मे कइँन दिया ?

( ३२ )

“वधन-भगवत क्या बात हा पा दःप्रतिप हो यह के धाप ?  
 भव - दुःख - दाग कइँनाक क्यों नो मुन्को धार ?  
 मुन्क न धनता मिनय कुन भा, धिनु धानता न धुनिमान !  
 क्या कइँ धनता मेरा वन न कौन करेगा कइँ मुजान !

( ३० )

“महा मृदुच हो करके कैसे भोगोगे तुम कानन - झंश ?  
कहाँ रहोगे, क्या खाओगे, क्या पीओगे हे प्राणेश !  
क्योंकि आज तक एकाकी बन नहीं रहे हो तुम धीमान !  
और ज्ञात भी तुम्हें नहीं है वन के भीषण मार्ग महान ।

( ३१ )

“कहीं भाद-भंकाव उग रहे, कहीं रहे चिघाव नगेंद्र ;  
कहीं नगेंद्र छ फाड़ते सुख को, कहीं गर्जने महा मृगेंद्र ।  
ऐसे वन में कष्ट पडे पर नाथ ! सुनेगा कौन पुकार ?  
हाथ नहीं हथियार आपके और आप सुकुमार अपार ।

( ३२ )

“मृदुल पुष्प-शय्या पर सोकर, स्वर्गोपम सुख अनुभव कर—  
भोग सकोगे किस प्रकार से कष्टों को वन के अंदर ?  
याद करो उस कमल-कली को, आ जिसने नल-क्रीड़ा में—  
चरणों में जुभ करके तुमको डाल दिया था व्रीडा में ।

( ३३ )

“प्रकृति आपकी अति विचित्र है, कठिन और है कोमलतम—  
सिरस-सुमन-वर्षा से भी जो घबरा उठती है अनुपम ।  
वही कठिन हो जाती रण में शस्त्र-वृष्टि सह जाने को ;  
भालों के मुख टेढ़े करने और वज्रता पाने को ।

( ३४ )

“याद करो उस शुभ अवसर को विफल हुए जब आप अपार—  
स्वागत-समय देखकर तन पर जाल-वृष्टि का किंचित भार ।  
जन्म-सिद्ध-सुकुमार आपको होगा वन में कितना कष्ट—  
यही सोचकर मुझे दुःख है, आओ, कहो मुझे सब स्पष्ट ।

\* बड़े-बड़े सौंप तथा गजराज ।

( ३२ )

“जो तुम मुझे छोड़ना चाहो, आकर कह दो प्राणाधार !  
इस आशा के पावन में भी है वासी भैमी तैयार ।  
बिना कड़े यों मुझे त्यागना निर्जन वन में यात्र मुजान !  
करो कहीं तक न्याय-पूर्ण है, धर्म-युक्त है, ज्ञान-निधान !

( ३६ )

“भया द्रव याद नहीं छाता है तुमको वह अवसर गुणगोह !  
त्याग था देवों को मैंने करके जय तुममें हृद स्नेह ।  
पर तुम हिनके खिये जाते यात्र मुझे हा हे मुखकार !  
भयो यह क्षण परकर मुझको छिटकाते हो यों नरधार ?

( ३७ )

“पावकान में रषा करता पिता वाखिका की सतिमान !  
पानन में पति रजक बनता और उगापे में मतान ।  
रिगापुत्र से, मय हृदय का छोटा मैंने जिनके अर्थ—  
भा । ही टिम क्षरप से यों त्याग रहा है मुझे वनधर्म !

( ३८ )

“मेरा जो दुर्भाग्य मानिए, गुनै न देता न कृपु दोष,  
दिगु मार रहकर जा आते, तो हा गाजा कृपु सतोष ।  
आ लक्ष्मी, इतना हो मुझको, छोड़ नहीं इतना परिहास,  
रहने के लक्ष्मी नलि सीता जोती, है मुझका ऐसा जियाम ।

( ३९ )



( ४० )

“ऐसा करने से क्या होगा, प्रथम कीजिए इसका ध्यान ;  
होगा क्या परिणाम अंत में, सोचो यह भी, ज्ञान-निधान !  
कर सकते हो अलग मुझे क्या आप छोड़कर मेरा साथ ?  
घोने से क्या धुल सकती है हाथों की रेखा ? हे नाथ !

( ४१ )

“हूँ मैं आधा अंग तुम्हारा, मेरे बिना कभी कुछ काम—  
कर सकते तुम नहीं कहीं पर, सच कहती हूँ, हे छवि-धाम !  
पत्नी-सदृश नहीं त्रिभुवन में कहीं मिलेगा सच्चा मित्र ;  
पति के पीछे चलकर करती स्वर्ग-लोक को वही पवित्र ।

( ४२ )

“जन्य-दायिनी माता भी तो सुत के संग नहीं चलती ;  
प्रेममयी पत्नी ही केवल साथ नाथ के है जलती ।  
ऐसे तन के टुकड़े को तुम निर्दयता से छोड़ चले !  
सुख-दुख-संगी-सरल-सखा से यों अपना मन मोड़ चले ।

( ४३ )

“जहाँ मान स्त्री का न, वहाँ पर पैर कलह के जमते हैं ;  
सहिला छुड़ा सम्मान जहाँ पर, वहाँ अमर भी रमते हैं ।  
जन की आधी काया जाया नीच धर्म की होती है—  
और वही पति - हृदय - भूमि में पुण्य - बीज का बोती है ।

( ४४ )

“पत्नी जिसके पास, उसी को धर्म-कर्म का है अधिकार ;  
जाया ही गृहस्थ की जड़ है, और प्रेम का है आधार ।  
है यह सृष्टि - मात्र का कारण महामहिम - माया का रूप ;  
सुदरता का सागर होकर है जीवों में यही अनूप ।

( ४६ )

"वही देवता कइवाता है, जो करता स्त्री का सम्मान ।  
 देव-वाम है वही, जहाँ पर है महिला का मान महान ।  
 है सधरा का गान जहाँ पर, वही स्थान है मगध-धान—  
 खाँ - दिजा अनियम जहाँ पर, है वह वाणी - वास-स्थान ।

( ४६ )

"गा खेत दरि जात इदध पर श्री को रखने अपने संग ;  
 हरित करने गिरि - बाला को शिव देते निज धाया भग ।  
 पशु - पशु भी, शंख - वृष भी है सारे स्त्री - मानाधार,  
 हिनु 'वृष्टि - स्वामी' है नर तो कैसे करे नारि - सन्धार ।

( ४७ )

"ओहाधारों में होती है पति का गुरु केवल पत्नी ।  
 है पृथक - यौव वद रमणी, रच मे देती बल पत्नी ।  
 कर न देता पत्नी ग पति ही तुम होकर बाहर जाता—  
 है प्रजास मेरा न, हिनु पद थाप - खाए है यतजाता

( ४८ )

"नाम, विद्या, सेवा, भक्त इ का ही मया शक्ति-रूप—  
 देवी का गद मुच न वा गदें सुर-नर-मुनि-म-प्रियुवन भूष ।  
 गती - शक्ति धर्म-द्विष्ट होगी, मुनि-नर ! विज्ञान-भाष ।  
 पद वही दर पदों इह जो खाँ है रिता प्रियोकी-भाष ।

धमा दीजिए इन वचनों की, जो मैं दुख से कहती हूँ ;  
बहती हूँ मैं शोक-सिंधु में, विरह-न्यथा को सहती हूँ ।

( ५० )

“नहीं आपको तज सकती हूँ, किंतु छोड़ सकती हूँ प्राण—  
क्योंकि प्राण मे प्यारे हो तुम, प्राण नहीं प्यारे धीमान !  
प्रभु के ईर्ष्या प्राण तजेंगे नहीं मुझे देने दुख-भार ;  
ये कहते—‘तू करती हमसे अविज्ञ बत्ता, क्यों पति से प्यार ?’

( ५१ )

“हाय ! कहीं क्या, मुँह साँगे से नहीं मौत भी मिलती है ;  
दुखियों का दुख देख - देखकर वह भी मन में खिलती है ।  
भाग्य-भनन के भूपति ! आओ, मुझ अबला को अपनाओ ;  
मेरे मन को सुखी बनायो, आया, आओ, आ जाओ ।

( ५२ )

“कहाँ दौड़कर जा सकते हो, कहीं छिपोगे हे निष्पाप !  
तन में, मन में, रोम-रोम में रमे हुए हैं मेरे आप ।  
आँखों में बस करके भी तो नहीं दीखते तुम भरपूर ;  
वंद हृदय में हो करके भी चले गए हो आप सुदूर !

( ५३ )

“क्या सेवा मुझमें न बन पडा, कौन दोष का है यह वंद ?  
क्या छल - कपट किया है मैंने, हुआ कौन-सा है पाखंड ?  
क्या अपराध हा गया मुझमें, क्या प्रतिकूल किया है नाथ ?  
क्या आदेश अर्पण रक्ष गया, जिससे छोड़ा मेरा साथ ?

( ५४ )

“हृदय तुम्हारा सत्य - दया - निधि और प्रेम का सागर है,  
किंतु हा गया नाथ ! आज क्या वही क्रूरता - थाकर है ?

औन बुद्धि दे गणनायक को, कौन तुम्हें समझावेगा ?  
सोता हुआ जान सकता है, जागा कैसे जागेगा ?

( २५ )

“है तुमने अशक्य शक्या को अशक्य-शक्य में अलग किया ;  
अशक्यगत - त्नामो कडनाकर पयो यद अशक्य मोल बिया ?  
हामो दाब रहती, इयमो प्रसो । कियी का दोष नहीं—  
यो विचारकर या तो मुक्तता होता इय संतोष नहीं ।”

( २६ )

हाना कडकर भीन - तुमारा जज - विदीन - सी होकर भीन—  
पयो गिर गई एक कुज में चेतनता से होकर हान ।  
देती थी यद जाल इम नरद, होकर अंगाद्यज महान—  
भानो इष्ट - अतिना युत या उन कर्मके यह लीक - निवान ।

( २७ )

शाक दुई या मुर्दिगत मैनी कुज - भूमि पर ली दुई—  
मातो नीज - पयो लने उन - रभी हा पनी दुई ।  
देद हने का जाल भा । पर यो भाव दर्शाता था—  
नाना नद - तिन भाव - देर भी अष्ट - बुद्धि दर्शाता था ।

है यह कर्मों का फल पुत्री ! इसे भोगना है अनिवार्य—  
सुकुलो भी इसके ही द्वारा कैसा कठिन मिला है कार्य ।”

( ६० )

चिंता करने से पृथ्वी का रग हो गया पीला था ;  
कुशित पवन मंद वहता था, गगन शोक से नीला था ।  
खलल-खलल अति निर्मल जल के झरने झर-झर वहते थे—  
मानो वे सब रो-रो करके भैमी से कुछ कहते थे ।

( ६१ )

उनके सुनकर शब्द भीमजा जागी उस भीषण वन में ;  
देख नाथ को नहीं साथ में वनी चिंतिता फिर मन में ।  
आतंनाद प्रारंभ कर दिया, निःश्वासों का पुल तोड़ा—  
हाय ! हाय ! हा ! हा ! यों करके आहों के घट को फोड़ा ।

( ६२ )

लगता था यों पयोधरों पर अश्रुपात गिरकर सारा—  
मानो मेरु-युगल-शिखरों पर चार नदी की हो धारा ।  
मूच्छ्रां - पर - मूच्छ्रां आती थी, कष्ट अंकुरित होता था ;  
पति-विलाप के ही वीजों को शोक हृदय में बोता था ।

( ६३ )

धारण करके धैर्य, कठिनतम करके अपना हृदय विशाल—  
जोड़े हाथ, खदी होकर वह बोली दीन-वचन उस काल—  
“हे वनदेवो ! बिना तुम्हारे वन में मेरा रचक कौन ?  
कितु देखकर मेरी हालत ध्याज हो गए क्यों तुम मौन ?

( ६४ )

“मेरे सतीपने के साक्षी सूर्यदेव ! तुम भी रहना—  
इसी विषय में प्राणनाथ को समय पड़े पर कुछ कहना ।

पति-प्रियोग के सागर में अब मुझे निरंतर है बचना ;  
 प्रितने दु-रा जगत में होते, उन सबको मुझको सहना ।

( ६२ )

“आओ प्रियतम ! आओ, आओ, मुझे रजाओ मत दिन-रात ;  
 वो न चाहे आना, तो अब एक मान लो मेरी बात—  
 अपने गुण-गण को समेटकर ले जाओ तुम अपने साथ—  
 प्रियम मेरी विरह-वेदना नहीं चौगुनी होवे नाथ !

( ६३ )

“झियो दूसरे धन में, पुर में जाकर आप करोगे धाम—  
 वो फिर क्यों न गुणों को अपने ले जाते हों अपने पास ?  
 मुझको जीवित रखने को ही है यह तुमने किया उपाय—  
 देख देख इनको जीवेली हाथ ! हाथ ! करके यह, हाथ !

( ६७ )

“झिनु दुःखारे सदन ममो ! मैं कभी न तुमको छोड़ूंगी,  
 प्रिय आँखों ने रूप निहाता, नहीं उन्हीं भी कोड़ूंगी ।  
 मरु नखन मुननेगों को, कानों को, क्यों सोड़ूंगी ?  
 पर शिरो-हो विधवा हो अब के साथ न सोड़ूंगी ।

अमल कमल में खिले हुए ये कमल न मुझमें करते बात—  
वदन - काँति - स्पर्द्धालु हो रहे, और जलाते मुझे बलात ।

( ७० )

“हे हरियो ! तुम मुझसे कह दो, कहाँ गए हैं मेरे नाथ !  
हे कीरो ! तुम ही बतलाओ, आओ, आओ मेरे साथ ।  
छोड़ कलरवो ! कलरव को तुम, कहो मुझे कुछ उनका हाल ;  
कल-भाल को क्यों फुला - फुलाकर गर्व कर रहे हो इस काल ?

( ७१ )

“मारो तुम इन मृगराजों को करते जो मुझको वेदाल ;  
वचस्थल को फुला-फुलाकर चलाते हैं ये धीमी चाल ।  
हँस-हँसकर सम्मुख आते हैं और मुझे शर्मते हैं ;  
वन के बीच खड़े हो करके अपना वच दिखाते हैं ।

( ७२ )

“ले करके हथियार हाथ में इनका आप वच तोड़ो ;  
आओ, आओ अपने मन को निष्ठुरता से अब मोड़ो ।  
फूल-फूल करके ये कैले यही बात बतलाते हैं—  
भारी जंघावाले नल अब क्यों न सामने आते हैं ?

( ७३ )

“जन्म-कण-युक्त-कमला-वल करते ब्रण-युत पदतल का अपमान ;  
इनको क्यों न नष्ट करते हो, हो करके तुम शक्ति-निधान !  
सिर पर चढ़कर सूर्यदेव भी देते हैं मुझको अति कष्ट—  
आज तुम्हारे हैं प्रताप को चाड़ रहे ये करना नष्ट ।

( ७४ )

“आर्य-पुत्र ! क्यों इन लोगों से सहते हो इतना अपमान !  
सज्जा क्या आती न तुम्हें अब ऐसी बातें देख ? सुजान !

पडा थात पतजायोने क्या हाकर तुम मानव - आदर्श ?  
 पडी तार दिखजायोने क्या पाकर महा-शक्ति-उत्कर्ष ?

( ७५ )

"जो, नेम दिख्य हो गया, धन न मिलूँगी तुमसे नाथ !  
 इत भीरु ब्रजगर के मुख में जाता है यह जीवन-पाथ ।  
 जो अन्धकार-नाश में मुक्तो लेगा जीव बाल यह सर्प ;  
 पाने रक्षता हित पाँदे से आप वीरता - रत्न का दर्प ।

( ७६ )

"जाता मैं धेने यह-कर, शोक न तुम मेरा करना—  
 कभी का नके, तो मुर तेहर मुत-रुन्या का दुच करना ।  
 ई मे होना मेरे समाकर, इन्हें तुरं मे सौप चली—  
 रमेते फान मे री दुई ? पडी धरोहर उता-भली ।



किंतु राम हैं रक्षक जिसके, उसका भक्त कहीं नहीं--  
मानव क्यों फिर भी डरता है, क्यों रोता है सभी कहीं ?

( ८० )

वाल न चाँका हो सकता है, रचा करते जब जगदीश ;  
लंका का विध्वंस कर दिया, मरा न तो भी रक्षित कीश ।  
अजगर तो क्या, जो त्रिशुवन भी ले लेवे कर में हथियार—  
उसे न घायल कर सकता है, जिसके रक्षक जगदाधार ।

( ८१ )

उसकी आज्ञा बिना न करता पत्ता भी दिलने का काम ;  
न्याय-नीति से ही होता है उसका शुभ आदेश लताम ।  
जिसके पाप बिना किसी की सुनो न जाती है क्रयाद ;  
सुन लेने पर बच जाते हैं पावक में पावन प्रह्लाद ।

( ८२ )

देख महा दयनीय दृश्य को एक शाकुनिक ने थाकर—  
मार दिया उसको फिर पल में निज विषा पल दिखलाकर ।  
सदा मारनेवाले से अति धली जिलानेवाला है ;  
जहर खिलानेवाला पहले अमृत पिलानेवाला है ।

( ८३ )

देख उसे जागी मूर्च्छा से मुदित अधिक बोला तस्काच—  
“क्या करती हो तुम इस वन में, चलो गेह पर मेरी लाल !  
वन भुजंग मैं दूँठ रहा हूँ तुम - जैसी मणि को ही आज ;  
मिलो वाँह भर-भरकर मुझसे व्यर्थ करो मत ऐसी लाज ।”

( ८४ )

सुनकर ऐसे कदु वचनों को दमयंती का सारा शोक—  
इस प्रकार चल दिया, जिस तरह हरिणराम को हरिण बिलोक ।

पदे घेग से उठकर उसने कहा—“गूढ़ ! तू जीभ सँभाल—  
पिता-नुष्य होकर तू ऐसे व्यर्थ मजाता है क्यों गाल ?”

( ८५ )

पूतना कहना था कि बधिर ने बड़ा दिष्ट फिर अपने हाथ—  
घौर पकड़ना चाहा उसको ले जाने को अपने साथ,  
किन्तु तब से भस्म ० कर दिया भैमी ने उसको तत्काल ।  
महाकोप के मारे उसकी यों लगती थी मूर्ति विशाल—

( ८६ )

हर-जगत-जाचन का पावक हो करके मानो तनुवर—  
दृग्-देह-मन्मथ को फिर से जगा रहा वन के अंदर ।  
रसि की रसि-नाशि ही अथवा यो-शरीर को धागणकर—  
भस्म कर रहो तनुपर तन + को कानन में अन्वेषण कर ।

( ८७ )

धन्य अन्य है गती-नीम का, धन्य उमे, जो उसकी रान ;  
भासत - भूति अन्य है, जिसका मनुज - जति को है अभिमान ।  
कई कई तक इमने पैम कई दुष्ट है नारी-रत्न—  
जिनकी कति देम मछो है वे हो, जो करते हैं यत्न ।

शोक-दुःख को, आधि-व्याधि को पल-भर में वह हर सकती ;  
निज इच्छा के विना नहीं वह थम से भी है मर सकती ।

( ६० )

जो इसको मिथ्या बतलाते, झूठे वे कहलावेंगे ;  
सती - शक्ति - महिमा - विद मानव उन्हें मूढ़ बतलावेंगे ।  
सावित्री ने सृष्ट स्वामी को थम से शीघ्र छुड़ाया था ;  
ऋषद-सुता का चीर कृष्ण ने क्यों कर कहे, बढ़ाया था ?

( ६१ )

दुराचार से बचना ही क्या सतीपना कहलाता है ;  
पातिव्रत तो कहीं-कहीं पर किसी - किसी में पाता है ।  
साथ चिता में जल जाना भी एक सतीत्व कहाता है ;  
बड़ी कठिनता से इस घन का पालन करना आता है ।

( ६२ )

सती - शिरोमणि श्रीसीता ने, जगत जानना जिनका नाम—  
लंका में रहकर भी रक्खा निज सतीत्व को था अभिगम ।  
कन्या होकर भी कुंती ने करके वैसा घोर कुकर्म—  
कभी न छोड़ा, पर पाला था जीवन तक साध्वी का धर्म ।

( ६३ )

पति के साथ न जलने पर भी सती उत्तरा कहलाती ;  
थे पति पाँच, द्रौपदी तो भी पातिव्रत - महिमा पाती ।  
कर कुकर्म भी सतीपने से गिरी नहीं गौतम-नारी ;  
सारा को भी पतिव्रता ही कहती है पृथ्वी सारी ।

( ६४ )

सचो सती वही होती है, है जिसके पति-भक्ति अपार ;  
खप, तप, ईश्वर और सभी कुछ है जिसके अपना भर्तार ।

हरि दर्शन कर लेती हैं वह, अपने पति का वदन विलोक :  
बने नदी सदा जगता है स्वामी विना स्वर्ग, भू-लोक ।

( १२ )

जो कुछ दे, उनका वस पति है, यज्ञ, याग, धन, तीर्थ, सुकर्म—  
उसकी सेवा, उसकी पूजा, उनकी भक्ति, यही है धर्म ।  
है ईश्वर व जगत् नदी वह, है जो उसका पति, अभिराम—  
यही माया है, ज्ञान-मान है, ध्यान, वारणा, प्राणायाम ।

( १३ )

प्रेम जत हो पतिव्रत है, जो इसको रखती रमणी—  
भाग-रत्ना, शक्ति-स्वल्पा कर्तवी उसको मय धरणी ।  
या प्रेम ही न्य इतिवृत्ति शिष्ट-दातृ हरनेवाली :  
अन्ध होकर या वह मरणा, पापी-यमु हरनेवाली ।

( १४ )

हिन्दू मित्र-विपुल जनर १३ नूर मई वो धरती शक्ति :  
य जगत् ने हीजा-रहे वा उनको उसमें अनुरक्ति ।  
न्य न्य है परमेश ! तू, है विरंभर ! जगद्धार !  
देव २३ न्य न्य हो नित्यो जो तू उपधार ।

( १५ )

महा-महिम ! तू क्यों माया का भेद नहीं देता पाने ?  
वेढंगे, वेतुके काम क्यों करता है तू मनमाने ?  
( १०० )

ऐसी श्रेष्ठ सती को भी तू देता है जब दुख महान—  
तो धव, कलि की कामिनियों की क्या हालत होगी भगवान !  
रानपाट - परिघार - हीन बन, ऐसा नल भी दुख पाता—  
तो क्या हाल हमारा होगा, नहीं समझ में कुछ आता ! !  
( १०१ )

सैमी की कोमल काया पर खूब था रहे थे प्रस्वेद ;  
व्याध-भस्म को वहीं छोड़कर, फिर वह आगे बढ़ी सखेद ।  
धर-धर काँट रही थी दुख से भर-भरकर आहों पर आह—  
झर-झर आँसू बहा रही थी कर - कर विरह-पयोधि अथाह ।  
( १०२ )

भूल-न्यास से व्याकुल होकर वैठी वह बट नीचे एक ;  
जिसके समुल्ल वर तड़ाग था, फलित आश्र थे जहाँ अनेक ।  
या निदाघ-मध्याह्न उस समय, था उसका अति आंत शरीर ;  
सोच रही थी वह नल को ही, भूज रही थी अपनी पीर ।  
( १०३ )

हरे दलों का दौना करके उसने नैपथ - रुचि - अनुकूल—  
बड़ी युक्ति से रखे उसमें ताज़े कंद, मूल, फल, फूल ।  
छोड़ सरोवर में वह उसको खाकर फिर कुछ भीठे आस—  
वहीं सो गई नल पी करके रत्ती-रत्ती पति का नाम ।  
( १०४ )

नहीं सुध ली किसी ने भी गहन में भीम - तनया की ;  
रहे थे प्राण ही तजु में, रक्षा उसमें न कुछ वाञ्छी ।  
नगर-वर 'चेदि' में कैने गई दुख भोग नल - नारी—  
लिखी संक्षेप में आगे इसी की है कथा सारी ।

## तेरहवाँ सर्ग

( १ )

जबजातों के धमक-सुयोतक-जीवन-जल को—  
पीकर दिलावा रहा प्रीण्य था अपने रज को ।  
दमपतो-सुख-रस भोगता कष्ट महा था—  
श्रम-नों को श्योकि दुखा वह मान रहा था ।

क्षेत्र नृनिहत-छेय को भूमि हृदय था बज रहा ।  
माता मरति दुःख से रोती है दुःखित महा ।

( २ )

जुं नदियाँ बन चुष्क पड़ी थीं रस जलजाती—  
दृष्ट-भंदा सत्रा काव ही खप हो जाती ।  
रुतो ये अन-सीज वृत्त बन पीले, कात्रे—  
"दुःख भागने सभों पराश्रय - जीवनवात्रे ।"

भगवान् भी उदर्यन धन पदता था वह मय करी—

"सिंभनों की माः से कीन नवा जनना नहीं ?"

( ३ )

( ४ )

जिसके भय से सूर्य हिमालय - सम्मुख जाते ;  
विष्णु शीत के लिये दुग्ध - सागर में पाते ।  
कमल-नाल के बीच छिपे रहते कमलासन ॐ ;  
गंगा-जल को बहा रहे सिर पर चर्मासन † ।  
ऐसे भीषण ग्रीष्म से वाज़ी लेगा कौन नर ?  
हिमता-जनिता नीर को उड़ा रहा जो वाष्प कर ।

( ५ )

महा उष्णता फेज, ग्रीष्म की चोटें खाकर—  
दिन भी मानो बड़ा लोह की समता पाकर ।  
पति-दुख-कारण प्रिया-रात्रि भी घटती जाती ;  
क्योंकि न मिलता दिवस उसे है जब वह थाती ।  
विरह-काल को काटते यों ही दोनों नारि-नर—  
मानो भैमी को अलग नल राजा से देखकर ।

( ६ )

बड़ा घुरा या हात हो रहा सब धरणी का—  
ताप-रूप-फल भोग-भोगकर निज करणी का ।  
थी गरमी से निकल गई मनुजों की गरमी ‡—  
नरमी काया में न, किंतु थी मन में नरमी × ।  
नीच-निदाघ-नरेंद्र को करने को हर्षित महा—  
रोम-रोम भो भीति से था मोती वर्षा रहा ।

---

● ब्रह्मा । † शिव । इन वानों के देश प्रमाण नहीं हैं, किंतु ये  
फलपनापे—उत्प्रेचार्य—धो दे । ‡ अपने बल का गर्व । × दोनता ।  
शिष्यलता शरीर में थी ।

( ७ )

ऐसी शत्रु में पना हुई थी भीम-कुमारी—  
 वन में एकद्विनी, व्याधियाँ सहकर सारी ।  
 वहाँ हीक नगाद-काल था जल भयंकर—  
 था नातंड प्रचंड अनल-सम, अनिल-नाप-धर ।  
 अक्षर तो निरशक्ति थी, था ऊपर रवि-ज-निकर—  
 यथता वन इनको महा, घन्य भीमजा, घन्यतर ।

( ८ )

नदियों-नदिय महान पंक्त में जड़े तुम थे ;  
 तल-पुना में नीचे भूमि पर जड़े तुम थे ।  
 वृक्ष पर गगन जोग धनुषुट धरणा-रुपता—  
 था । अदृश देव रहे थे तुम का लज्जा ।  
 थीं धूँके प्रवेद की दना-विज्ञा में गिर रही—  
 थीं अविनाश देव भी धी शिवा से विर रहीं ।



“तू पिशाचिनी ! चली यहाँ पर क्योंकर आई ?  
 है धभागिनी सत्य सभी को तू दुखदाई ।

कर्म-हीन जो तू नहीं होती, भद्र-सुत-वेप-धर !—  
 तो तुझ-को गजराज भी चल देते क्यों सँघकर ?

( ११ )

“मचल-मचलकर तुझे मारते कुचल-कुचलकर—  
 तेरे तन का चूर्ण बना देते जब कुंजर—  
 होता तब कल्याण हमारा मनुज-घातिनी !  
 था वन का भी अहोभाग्य तब महा-पाणिनी !

तेरा थाना ही यहाँ है कारण उत्पात का ;  
 नहीं आज तक दुख हुआ हमें किसी भी बात का ।

( १२ )

“देख, ढधर तो देख, मृतक तनु कितने भू पर—  
 कई युवक, शिशु, वृद्ध, मरे हैं बालक, सुदर ।  
 मणि-मुक्ता-भाणिक्य-नाश का चूर्ण हो गया—  
 साथ-साथ ही सभी हमारा सौख्य सो गया ।

जता-कुंज-तरु-वृष्य हुआ, इस वन को तू त्याग जा ;  
 क्यों श्मशान इसको किया ? धभागिनी ! तू भाग जा ।

( १३ )

“फिर आया करि-यूथ करेगा नाश हमारा ;  
 तुझे कुचलता क्यों न बता तू यह हत्यारा ?”  
 भूतना फड़कर जगे दौबने सभी नारि-नर—  
 और था गए वहाँ मजु, मतवाले कुंजर ।

धमयंती घति शोक से खड़ी रही, वीही नहीं ;  
 बिसके रचक राम हैं, क्या उसका मचल कहीं ?

( १४ )

मि तु उसे अत्यन्त मानसिक कष्ट हुआ तब—  
 नीच-व्यक्तिक जग-वचन हानन में स्मरण किए जब ।  
 हाथ जोड़कर देखा सूर्य से—“सुनिष्ट दिनपति !  
 पां में सखी सखी, शुद्ध जो मेरी गति-मति—  
 तो दुरा दो उसको महा, कष्ट हमें जो दे रहा—  
 नल० का, मुझको मिरट के सागर में जो प्ये रहा ।

( १५ )

“भाग्य ! मैंने कभी कहीं क्या पाप किया है ?  
 क्या मैंने पां कभी किसी को दुरा दिया है ?  
 जिसमें मुझको नशों नाग भा होता सुख में—  
 और न दावे नाग नष्ट कर मुझको नुष में ।  
 जिसमें मेरे भाष-दित था पति ओं धारण + किया,  
 बाण-बाण जो धप भी भाज उसा ने कर दिया ।

( १७ )

यो फटकर वह विषी कुंज में प्राण बधान—

क्योंकि सर्प-सम वणिक वहाँ थे उसको जाने ।

इतने में ये टसी स्थान पर दाड़े थाण ।

महा मुदित फिर हुए देण अपने मन भाण ।

कहा एक ने सोचकर - "विषा दंग हमने क्या ;

देरी को क्या-नया कथा, दड मिलेगा अम क्या ।

( १८ )

"आई थी यह थात हमारी रजा करने—

खों में भाऊत उनारे सारे करने ।

गड़े हुए खारिद किम ता; कि से पान ?

यो यह आता नही सुतक के; जो जाले ?

अम्ह भन्व डे देण 'तु रपा करना घर जरी -

'खेदि'-नकर हम जा रहे, डे 'सुभा' राजा जरी ।"

सोच लुकेगी भूमि और पाताल सभी जग—  
 पट्टेधूंगी मैं शीघ्र प्राप ही स्वर्गलोक तब ।  
 बैठे-बैठे चों मुझे नहीं मिलेंगे प्राण धन ।  
 दमवीर के सामने भाग्य रहेगा दास बन ।

( २१ )

“उपयोगी कुछ काम चाहिये मुक्तको करना—  
 महाकष्ट को और यत्न से अपने हरना ।  
 करने स कति अटिन कार्य भी सरल बनेगा ।  
 सरल बनेगा सुधा, उपज नी तरल बनेगा ।  
 बिना जले ता गरम भी नहीं एक पद जित सके—  
 चलनेवाले पीठ पे मेरु-शिखर भा नित सके ।

( २२ )

( २४ )

“कान छ खोलकर आप सुनो अब बड़े ध्यान से—  
रखते सुर भी सदा वधू को महा-मान से ।  
राम-नाम के प्रथम नाम सीता का थाता—  
बही नियम है सभी सृष्टि में पाला जाता ।

होता महिला - मान के पीछे मानव - मान है ;  
करके उसका † त्राण वह देती पहला ज्ञान है ।

( २५ )

“करते हैं वे पुरुष सभी धरणी का शासन—  
रखते हैं जो सदा उच्चतम स्त्री का शासन ।  
पूजित होकर स्वयं पूजते जो नारी को—  
वसुज ‡ हुए भी, सुदित करें वे वसुजारी को ।

छिन जाती है हाथ से उन मनुजों की संपदा—  
पत्नी को जो मानते पदत्राय × के सम सदा ।

( २६ )

“शीघ्र अधोगति - गर्त बीच वह देश गिरेगा ;  
वही बनेगा दास, उसी का भाग्य फिरेगा ।  
जिसमें स्त्री अपमान पुरुष करते रहते हैं ;  
जिसमें रमणी-रत्न खन कर दुख सड़ते हैं ।

पति को सब अधिकार है, जहाँ वधू को कुछ नहीं—  
है ऐसा भी देश क्या हो सकता उन्नत कहीं ?

● अपने पति पर कटाक्ष । † नव-मास में । ‡ व्यजना से म्लेच्छ ।

× “जूती टूट गई, और परसों पहन लेंगे”, पत्नी के मर जाने पर, भारत-  
वर्ष में मूर्ख पति ऐसा ही कहते हैं ।

( २७ )

"एक चक्र से नहीं चलेगा यान कभी भी ;  
 वा सञ्चिता अर्थीग नहीं यश-मान कभी भी ।  
 अंग अथवा काम कौन सदा अथवा ,  
 पूरा पाठा शरीर न करेगा उसको पूरा ।

ये ही शायन देश का कर सकते गुणवान हैं—  
 मद्रिदा के जा मान को मान रहे निज मान हैं ।"

( २८ )

पौं कहकर चण पड़ी, धैर्य को वह वारण कर—  
 पण्डितों के पद-चिह्न देखती हुई भूमि पर ।  
 पद-पत्र पर यह गहन गहन चनता आता था ;  
 पद-चिह्न पर मार्ग फटितता से पाता था ।

मैत्री समये पृथ्वी उठा-उठाकर हाथ को—  
 "यवा तुमो देगा पड़ी मेरे बोजन-नाथ को ।"

बदे-बदे शादूल थे, कई तरह के ब्याल थे ;  
एक दूसरे के लिये हो जाते जो काल थे ।

( ३१ )

बीलकंठ, कलकठ, कोरु, कलरव थे चातक ;  
कुवकुट, कारु, उलूक, रयेन, खंजन, कुररी, बक ।  
त्रोणकाक ये, चटक, चीन, चटका, चिमगादर ;  
कौंच, कंरुखग, गीध और थे नाना नभचर ।  
हस वंश-अवतस थे, वंश, मच्छिका चौद्रफरछ—  
थे पतंग भी गदन में और जंतु, म्हीगर, भ्रमर ।

( ३२ )

कहीं बालुका बिली हुई थी, उपल कहीं पर ;  
थी हरियाली कहीं-कहीं, थे नीरस तरु-वर ।  
कहीं कूप थे, और कहीं पर वापी सुंदर ;  
कहीं - कहीं जल - युक्त, कहीं थे शुष्क नदी सर ।  
भूमि कंटकाकीर्ण थी, कहीं-कहीं थे भूमिघर—  
यहते थे त्रिनसे सदा भरने करते करर-भर ।

( ३३ )

तरु से छिपटी हुई लताएँ ललित कहीं थीं—  
जो भैसो के विरह-कष्ट को बड़ा रही थीं ।  
फलित-प्रफुल्लित वृक्ष कहीं पर थे छवि छाने—  
जो उसको थे पुत्र-सुता की याद दिलाते ।  
मंजु-कुंज-वैभव निरख शोक उसे था हो रहा—  
था जो उसके हृदय में दुख-बीजों को बो रहा ।

● गहद बनानेवालों । मधु क्षीरं माञ्जिकादि । इत्यनरः ।

( ३३ )

निर्जन वन में कहीं-कहीं कल-कल होता था ।

पल्लव-पल्लव जन-शब्द, कहीं पल्ल-पल्ल होता था ।

गम विषाई कहीं, कहीं ये सिंह गरजते ;

ये घटकादिह विहग कहीं कोलाहल करते ।

धानन-धानन में मदा कानन तब उमने किया—

शाश्वत में विश्राम फिर राजतीसुप्त छ में ले लिया ।

( ३४ )

दुर्द प्रवीणी रक्त, भासना-विरधानल में,

ये मानो रति दिने भूत में नभ-मंडल में ।

करते हाहाकार यही ये नारे गंवार—

आकर गेवा उता दमे भी अग्नि + भयतर ।

दय भनिष्ट को नष्ट ही करने का ये कर रहे—

सन्तानायन माधुवन, पौर पाप ये कर रहे ।



बले गए वे छोड़ मुझे इस गहन गहन में ;  
या विकार उत्पन्न दुष्ट-कृत उनके मन में ।  
भूपर छाई कीर्ति है उन नैषध अभिराम की ;  
भीम-सुता हूँ मैं प्रभो ! दमयंती इस नाम की ।

( ३८ )

“प्राणनाथ हैं कदाँ, कहो तुम कृपानाथ हो ;  
चिन्ता - पात्रक - हेतु याप ही शीत पाथ हो ।  
हो तुम मेरे पिता और हो तुम ही माता ;  
हैं सुख में सौ साथ, दुःख में एक न आता ।  
आश्रम छ मेरे जीव के बग आश्रम में रह रहे ?  
प्रिया-विरह की वेदना कहो प्रभो ! क्या सह रहे ?”

( ३९ )

“नहीं - नहीं दमयंति ! शूठ है तेरा कहना—  
आना ही जत्र नहीं हुआ, तो कैसा रहना ?  
तप के बज्र से यही तुम्हें † हम बतला सकते—  
अथवा ! तेरे लिये उसे हम अथ जा सकते,  
फिरु हमें आज्ञा नहीं उस जगदीश्वर की अभी—  
पर अथव्य होगा मिलन तेरे से उसका कभी ।

( ४० )

“विरह-वेदना अधिक, पुरुष को डोती स्त्री से ;  
होता जिसको दुःख पृथ्वी तो उसके जी से ।  
नारी तो कर सदन उसे कुछ हर सज्जती है,  
फिरु पुरुष की प्रकृति उसे श्रद्धा रखती है ।  
पसती उसमें गुप्त है संकल्पों की थापदा ;  
मन-डीभन में और वह घुटता रहता है सदा ।

● प्राणापर । † तेरे पाति को ।

( ४१ )

"नहीं समझू तुम्हें अन्धकार की माया ;  
 तुम्हें क्या, उसका भेद नहीं हमने भी पाया ।  
 इसे ज्ञापना नहीं, दृष्टि में कहीं न आता,  
 पता - पता बिन्दु पता उमका घतजाता ।

बिना ईश-आदेश के सुख-दुख कुतू निजता नहीं—  
 पानी भी द्रिक्ता नहीं, नाराज भी निजता नहीं ।

( ४२ )

"ऐसा मन में मान, भयं को हर तु धारण ;  
 ई तु मन्त्रो मती, नहीं नागी सधारण ।  
 धर्म-गन्तव्य ने ईश, दुःख छितना था पाया,  
 धी गीता - मन ज्ञान - वाचिना सीता - माया ।

इस नन्द-रूप को जोग्य भा थी देत्र हमका विभवई—  
 मूर्च्छ-व्यस विगये नहीं तुम्हें जोगी दिवस नर ।"

( ४३ )

होते थे यों ज्ञात, फूल-फल-दल-दलछ छदकर—  
 ग्रीष्म-ताप से पहन लिया मानो पीतांबर ।  
 चलने से कुछ वायु के कंपमान थे वे नहीं—  
 मानो थे वे प्रेम से ध्यानावस्थित सब कहीं ।

( ४५ )

द्विज-मुख-हिमगिरिराज-श्रेष्ठ से उस पर गिरकर—  
 वेद-गिरा की गिरा † उसे करती थी शुचि-तर ।  
 विप्र-रमश्रुं-शिव-जटाजूट से अथवा उस पर—  
 घहनशील थी वेद - मंत्र - गंगा-धारा - वर ।  
 होम-वह्नि की धूम थी, या दमयंती-दु ख सब—  
 जल-जल करके भस्म हो, उबता था नभ और तब ।

( ४६ )

थे मृग-शावक-मध्य केसरी करते क्रीडन ;  
 कपि-शिशु-आसन बने हुए थे महा-मृगादन × ।  
 लघु-वस्त्रों को दूध बाधिनी पिला रही थी ;  
 श्येन-सुतों को धान्य कपोती खिला रही थी ।  
 था स्वाभाविक वैर जो, उसको मन से त्यागकर—  
 बसते थे सुख से सदा वहाँ सभी पशु, ब्योमचर ।

( ४७ )

कहीं तपोवन-मध्य तपस्वी तप करते थे ;  
 कहीं ध्यान में मग्न साधुजन जप करते थे ।  
 कहीं-कहीं था वेद-शास्त्र का होता पाठन—  
 कहीं तापसी-शृंग कर रहा संभ्योपासन ।

\* समूहवाची । † सरस्वती-नदी । ‡ डाढी, मूछ । × चीते ।

कहीं धेनु खाती दुड़ी, कहीं शरप थे पज रहे—  
कहीं देव-भंदिर रुचिर थे सुमनों से सज रहे ।

( ४८ )

पह ध्यात्रन को देख विनादित डोकर उस पर—  
पखों 'चेवि' की ओर तपस्वी-घ्राशा लेकर—  
चीन दिग्म पश्चात् नगर में पहुँची राजा—  
या जो नहा मिश्रात और सुंदरता-राजा ।  
उसको पगनी मानकर, बरत बठाकर हाथ में—  
जगो दौड़ने वेग में चातक उसके साथ में ।

( ४९ )

राज-नरेश में देव रहीं यो ब्रह्मा-सागर—  
बसको सुनी श्रुता राज-नाता गुण-भाकर ।  
निःशक्तों के हाथ गीत उसको मुख-वाकर—  
बाजा उसमें ज्वन सुधा से मना मधुर-तर—  
"मुर-धवा वा नाती रोनी म में फोन गुम ?  
रुट वा ? गु - हरी, रङ्गे न भय रो नीन गुम ।

( ५० )

( ११ )

सुन मौसी के वचन भीमजा पीत पड़ गई ;  
खड़ी हुई थी, किंतु वहीं-की-वहीं गड़ गई ।  
थी चिंता यह, "भेद इसे कैसे बतलाऊँ ;  
पति ने छांदा मुझे बात यह क्यों जतलाऊँ ।

क्या समझेगी यह मुझे, नज-स्थक्ता है भीमजा ;  
इसके कुछ अपराध पर है पति ने इसको तजा ।

( १२ )

"क्योंकि जन्म से स्त्रियाँ बुद्धि-हीना होती हैं ;  
संदेहों के रोह-मध्य ही वे सोती हैं ।  
कहती क्या हैं, और हृदय में क्या रखती हैं ;  
अपने मन का हाल नहीं वे कह सकती हैं ।

साधारण श्रुति को सदा महा दोष वे जानती—  
अपने को सबसे चतुर हैं वे मन में मानती ।

( १३ )

"चढ़ जाता है बात-बात में. उनका पारा ;  
होता उनका ज्ञान सभी वेदों से न्यास ।  
करके नर को वश्य, छोड़कर वाणी-सर को—  
करती सिर को उठा नष्ट हैं वे घर-भर को ।

जादू-टोना ही सदा पहला उनका कर्म है—  
हँपाँ उनका धर्म है, रोना उनका वर्म † है ।

( १४ )

"महिलाओ ! ये दोष छोड़ना सहज नहीं है ;  
रमणी इनसे रहित भूमि पर कहीं-कहीं है ।

---

\* जरा-जरा-सी बातों पर कोप करना, पेट जाना, नाराज हो जाना । † निज रक्षार्थ दाज के समान ।

इन दोषों से नीध दुईं तुम मनुज-वृष्टि में—  
जिसने दुगुको तजा, कामिनी बही सृष्टि में।  
इनके कारण कर रहे शासन तुम पर आम नर—  
भानिनियो ! तजकर हूँ सावधान हो शीघ्र-नर ।”

( २२ )

पेना मन में सोच, पास वह बोली जाकर—  
“वेदिस्यानिनो ! सुनो रूप-भक्ति-करणा-सागर !  
मुझे गानगी एक आम नाधारण मानो—  
रत्नम कुन की और मुझे मेरंभ्रों जानो।  
जिदुई मुक्तये गहन में मेरे पगरे प्राशधन !  
इतु री है मे कर्दे सोड-तोडकर नगर-वन।”

( २६ )

“जाने हा अब मुझे दहेंगी क्या में रहकर ई  
दुर में पति को मुझे हुना है अब दिन-भर।  
राजमान ज भाग धवन ही तुम पर दुस्तर—  
रवा किम भा ते रजाई भाग तेम दा भिर पर ?  
जानी मे रूप जोगर, मेमा मुन है सो रहा ;  
1-4याद है कानको का दहया तुमने महा ।”

( २७ )

( ५८ )

“यहीं फहीं पर तुम्हे प्रेममय स्वामी तेरा—  
मिल जावेगा शीघ्र मिटाने विरह-शँधेरा ।  
किसी तरह का क्लेश यहाँ पर तुम्हे न होगा—  
धब तक तूने दुःख भला भोगा सो भोगा ।  
सबसे उत्तम बात यह सखी-प्रिया है वह सदा ;  
प्राणों से प्यारी तुम्हे रक्खेगी वह सर्वदा ।”

( ५९ )

“धन्य-धन्य हो आप दीनजन-पालक जननी !  
किंतु आपके थौर नहीं है मेरे बननी,  
क्योंकि वहाँ पर पुरुष कभी भी मुझे न पाते—  
वहाँ न मेरे नियम ध्यान से पाले जाते ।  
आप महारानी भला, पास न मेरे शत्रुहर छ ;  
क्या कह करके, आप क्या कर सकती हैं कोप कर ।

( ६० )

“राजाओं की रीति सदा होती है उलटी ;  
भूले हैं वे पुरुष कहे जो वसकों सुलटी ।  
जो उन पर विश्वास करेगा, वही मरेगा ;  
उनको जिसकी चाह हुई, वह आह भरेगा ।  
उनकी हाँ-हाँ मैं भला ना रहती छिपकर सदा ;  
कृपा-पात्र जो भूप का, उसकी दुखदा संपदा ।

( ६१ )

“कहलाता वह मूक, मौन-युत जो रहता है ;  
होता वह वाचाळ, सत्य को जो कहता है ।

● मेरे पति ।

है गर्वीला वही ज्ञान को जो गहवा छ है,  
 निर्यंत जनता वही दुखों को जो सदता है।  
 मग मूढ, अति दुष्ट भी उसे भूप है मानता—  
 उसकी दो-मो-हाँ मदा जो न मिलाना जानता।

( ३२ )

भ्रष्टापी के-से दौत, बचन है उनके माने † ;  
 ई नाने के थीर, दूसरे हैं दिखलाने।  
 उनको भूपित देड पर - फल - सम उड़लाती।  
 है अंदा में कठिन नृत्त बाहर से पाती,  
 ल्लिु भजे भा भूमिभति रोने से इन भूमि पर—  
 कृपा-प्राप्त जिनके मुर्ती थीर सर्वदा है निरर।”

( ३३ )

मुन ऐसी भूप - नीति, राग - माया ने दंसल—  
 पडा—“मुर्ती मुना ! ए-के नही मना नर।  
 करा - काड के भूप ज-मो भूपर धाऊ—  
 मका मड - मड-मड रूपं नव करा परपर।  
 है जो-प्रो प्रमो निपन, कइ दो उगके प्रेम से—  
 रको मुनश निरर मुन निरर जोर मुन से।”

( ३४ )



( ६५ )

"है सब कुछ स्वीकार," राजमाता यों कहकर—  
उठी और फिर उसे दिखाया अपना घर-भर छ ।  
समाचार सुन सुखद सुनदा वहाँ आ गई—  
सोना और सुगंध सखी में उसे पा गई ।

वे दोनो आनंद से हिल-मिलकर रहने लगीं ;  
दमयंती-दुख-सिंधु में सब सखियाँ बहने लगीं ।

( ६६ )

जादू-टोना-मंत्र-जंत्र वे करती पल-पल—  
सखी-शोक के नाश-हेतु रहती थीं सुविकल ।  
दूतों को उपहार झूब ही वे देती थीं ;  
विप्रों को भी पूज-पूज आशिष लेती थीं ।

राजा के आदेश से मंत्री सारे व्यग्र थे—  
सैरंजी-पति डूँढ़ने पुरवासी भी अग्र थे ।

( ६७ )

भीम-नगर में पहुँच गए थे समाचार सारे नल के ;  
नृप को कल्प कई लगते थे उनके विना एक पल के ।  
सब चिदर्थ में फैल गई थी उन दोनो की महा व्यथा ;  
कैसे हुआ युगल†-अन्वेषण, है आगे अब यही कथा ।

\* मल्ल-महलात, वाग दागोचे सभी कुछ । † नल-दमयंती-युग्म का ।

## चौदहवाँ सर्ग

( १ )

धनम धननल कर नील गगन में जो धन आते-जाते थे—

ये न मेघ थे, किंतु मनोहर सुर-कुंडर महभाते थे ।  
धमक रही थी धपला धम-धम नहीं, किंतु तलवारों थीं ;  
नहीं धवल थी बकायली, वे पावम-मैत्र्य-कृतारों थीं ।

( २ )

द्वन्द्व-धनुष का दरय न था, वह धना दुभा या धनु सुदर ,  
यों वे तर्षा की न चिक्षुएँ वाण-वृष्टि यों वह क्षतिगर ।  
झोले गिरते नहीं, किंतु वे गोले पड़ते थे तप पर ;  
इरा रहा था यों निदाघ का धुंन गजना कर, कर, कर ।

( ३ )

वर्षियों का उद सम हो गया प्राप्ति-चिता रज से मित्रकर ;  
दृष्ट-प्रत्यक्ष दरे-नरे थे दर्पित हो धरि के पथ पर ।  
नुरतिक के आग-दिग नू ने दरी चिन्ता दी थी मध्यमल ,  
जगत्-कृन्तन-दाग दृश्य भी बरगा था मुद् से पक्ष-मक ।

( ४ )

अनुचित न-धन-नूद का पाकर गिरु न कुद भी पड़ता था ;  
जगत था न कर को अन्ता और न तट पर बढ़ता था ।  
आरों ररा (धरि-धरि) मरका देना था नद वह उरदेग—  
केनद र कर भी न दरी गुण निज मर्षा का नि लेष ।

( ५ )

कहीं अमर गुंजार रहे थे, कहीं शिखी नर्तन करते ;  
 कहीं-कहीं जल-क्रीडा करके जलचर थे मन को हरते ।  
 हरे-भरे आमों के ऊपर सुंदर फल रसमीने थे ;  
 इद्र-मार्ग में जुगुनु होकर गिरते रत्न-नगीने थे ।

( ६ )

ऐसा जगत-सौख्य-कर पावस कष्ट भीम को देता था ;  
 धितित-कर्णधार-नौका का शोक-नदी में खेता था ।  
 क्योंकि अभी तक नल-भैमी का पता न उनको पाया था ;  
 नहीं एक भी दूत हर्ष के समाचार कुछ लाया था ।

( ७ )

एक दिवस फिर 'चेदि'-नगर में वह 'सुदेव' पहुँचा जाकर—  
 नाथ-विहीना सैरंध्री के समाचार सौभ्यद पाकर—  
 लगा पूछने—“कैसी है वह, और कहाँ वह रहती ?  
 निज पति का क्या नाम बताती, अपने को क्या कहती है ?”

( ८ )

जान काम की बातें वह फिर शीघ्र गया रनवास-निकट—  
 जिसके चारो ओर खड़े थे अस्त्र-शस्त्र धर सुभट विकट ;  
 था रानी का महल वहाँ पर वोचोंबीच बड़ा भारी—  
 जिसमें उच्च ऊरोखे पर थी बैठी हुई एक नारी ।

( ९ )

मृग-शावक के हाव-भाव को जिसके जोचन अति सुंदर—  
 जना रहे बस वार-वार थे उस वातायन के भीतर ।  
 प्रिय को खोज-खोज लगते थे वे ऐसे शोणित होकर—  
 विकसित-कवित-कोकमद-युग हो मानो रूप-सुधा-सर पर ।

( १० )

पशुपति 'मुद्रेश' ने उसका, भैमी ने उसको जाना,  
 निरा भ्राताघो का घर सदृश मन में और उसे माना ।  
 भोज मुनदा की ससियों को ऊपर उसको गुलवाया—  
 पर सरकार, इन्द्राक्ष-मंगल का समाचार उसने पाया ।

( ११ )

सैन-दथा में उसे देकर वह द्विज शोक-विमज्जित था ;  
 अपने का असहाय जानकर और चित्त में व्यथित था ।  
 अपना बहुत समान भोजना व्यगनी थी उस छो ऐसी—  
 अदृशता नेषा न कुड़-कुड़ जिपी हुई हाँसे जैसा ।

( १२ )

अध्या निरुप-ननु मानव में नान-रवि के अन्तर दर्शन—  
 नरा प्रकृतिल जा ग्लाना था नैति-प्रथिनी अपना मन—  
 आज इस दुर्भाग्य भाग में अपना घर से ताप गिया—  
 और राजा के अन्तर्गत में जाना उसका आज दिया ।

( १३ )

दुर्भाग्य का शोक गीत ही अदन जैम ही जेता डे,  
 आज प्रकाश समुद्रिना अघाति का मूय अन्तिक कर जेता डे ।  
 देव ही नैति-प्रथिनी का शिपुलज पा रहा रहा,  
 किन्तु ही-दुर्बल अन्तर्गत पर अन्तिक अन्तर्गत रहा ।

( १४ )

अन्तर्गत में ही अन्तर्गत अन्तर्गत ही अन्तर्गत अन्तर्गत ।  
 अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत ।  
 अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत ।  
 अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत ।

( १५ )

अस्त-चंद्रिका के ही सम थी वह अति अनुपम-सुपमा-हीन ,  
शुष्क-सुमन-लतिका-सी थी वह विरहातप पाकर अति पीन \* ।  
महा-गहन शैवाल-जाल में फँसी हुई वह इसी थी ,  
ब्रज में गत-रव पड़ी हुई वह ऋष्य-विरह-रत वंशी थी ।

( १६ )

ऐसी भैमी को वह द्विज-वर बहुत सांभला देता था ;  
दुख-सर में जीवन - नौका को कर्णधार बन खेता था ।  
ठहर वहाँ दो-चार दिवस फिर साथ भीमजा को लेकर—  
वह विदर्भ की ओर चल पदा उन सबको आशिष देकर ।

( १७ )

थे 'सुवाहु' के शस्य. मैत्रिक उन दोनो को पहुँचाने ;  
स्यंदन थे, सुंदर सखियाँ थीं भैमी का मन वहछाने ।  
मंगल गाते ठाट-धाट से भीम-नगर में गए सभी—  
जब देखा भैमी को, आया सबके ली में लीप तभी ।

( १८ )

को राजा ने यही घोषणा "जो नेपथ को लावेगा—  
धेनु-सहस्र-धान्य-धन-धरणी वह जन हमसे पावेगा ।"  
सुन इसको 'पर्याद' विप्र ने फरर कसा फिर जाने को ;  
उठा लिया यों बीड़ा उसने निपथ-माथ को लाने को ।

( १९ )

सबसे चतुर जानकर उसको भीम-सुता ने बुलवाया—  
और उसे धन-धान्य बहुत-सा दिलावाया फिर मगसाया ।  
उसने कहा, "विप्र-वर ! सुनिष् जहाँ-कहीं भी तुम जाओ—  
कहना मेरे इन वचनों को उसे, जिसे सम्मुख पाओ ।

\* पुष्ट, तेज ।

( २० )

"भाभा उख काटकर मेरा कहीं गए तुम जोवन-धन !  
 उसी वख को पढ़ने-पढ़ने तुम्हें हँदती हूँ वन-वन ।  
 धिरदानज से जज्ञ-जज्ञकर मैं रात और दिन रोती हूँ ।  
 मैं हा जानूँ मेरे ली का, कैसे पख-पख खोती हूँ ।

( २१ )

"घो-नशा है धमं मनुज का क्यों उसको तुम जोड़ खले ?  
 मनुरका-दोना-ममला से क्यों धपना मन जोड़ खले ?  
 उख दो माने का, मैं मम मधं-मृतक होकर जाती—  
 हन तक हाथ ! निराशा-विष का गूँ घूँट यों ही पीती ?

( २२ )

"इन अधनों का मुनकर इनका उखर है तुमको जो नर—  
 उयभा पूरा धिराव लाना सोध-ममककर दे दिखर !  
 पूर्व मनोसध तुम हो जायो, मेरी धरि से यही विनय ;  
 नम-नम हा मातां मुग्हावा, हो मुकमं में शाध विजय ।"

( २३ )

इसके पाये उय नाधन ने मुम मुकृतं में नून विषा,  
 कइ गुरीं को रूँड मम म धेष्ठ-मयोध्या-आगं विषा ।  
 यही रूँड-रूँड विगम निजता, कइता ये हा उमं यधन—  
 'भाभा उख काटकर मेरा कहीं गए तुम जोवन-धन !'

( २४ )

'क्यु-विषा न विषा न उखर उन वरनों का उमं कहीं—  
 होकर मम हागल विन मन न कइ दिना तक रहा यही ।  
 कया का उइ 'मनस विराट —' मेरा मुन जा दे हेरवर !  
 इरे ! इरा नम कइ, कइता ! कइता ! उ कइताक क !

( २५ )

“आल रामनगरी में भी खो राम करेंगे काम नहीं—  
तो अब मिलना नहीं ठिकाना भक्तों को है और कहीं ।  
दीनानाय ! आप भैमी को क्यों अनाथिनी हो करते ?  
दीन-बंधु कहला क्यों नल को बंधु-हीन कर सुख हरते ?

( २६ )

“काम छ राम-श्रीराम ! आपको काम † विना कुछ काम न हो ;  
हे बलघाम ! कभी दुर्वासा, परशुराम भी वाम न हो ।  
चींटी का विल ही दूँँ क्या, क्या सुहँ ले विवर्भ जाऊँ ?  
दूव मरूँगा अब तां जो मैं चुझू-भर पानी पाऊँ ।

( २७ )

“पूर्ण मनोरथ कर दो रघुवर ! तुमहीं मेरे रचक अब—  
गया समय फिर हाथ न आता, क्या आपकी होगी कब ?  
गंगा अबहरता जो तल दे, तो न नीच हो निथ कहीं ,  
ऋद्धि-सिद्धि जो तजे अयोध्या तो मेरी अपकीर्ति नहीं ।

( २८ )

जब तक ‘अहमिति’ साथ रहेगी, अद्धा है अपने बल में—  
तब तक सरल कार्य भी अपना पड़ा रहेगा हलचल में ।  
अपने बल को तुच्छ मान जब आत्मसमर्पण हम करते—  
तभी सफलता हमें मिलेगी, तभी ईश दुख को हरते ।

( २९ )

कर विश्वास स्वबल पर मानव जो हरि से भी करे विनय—  
तो इस धोखेबाजी से ही उसको मिलती नहीं विजय ।  
आत्मसमर्पण करने पर ही हरि से विनय सुनी जाती—  
और प्रभाव बाबती हैं वह स्वार्थ-हीनता जब पाती ।

● कामदेव के समान सुंदर ( अभिराम ) । † इच्छा, मरजी ।

( ३० )

बड़ी दया या द्रव्य की, जो अब आत्मसमर्पण करता था ;  
 देश-शक्ति पर मुख्य दुश्मा बड़, स्वयम्भ-गर्व को हरता था ।  
 ऐसा होने पर ही स्थिति भक्त-प्रार्थना हो जाती,  
 किन्तु अन्वया उस नू पर ही विनय शून्य में लो जाती ।

( ३१ )

श्रीमो मन्व नृगया से आकर मातृ-मन इच्छुपण्यं बर्हा—  
 गाल ह्यो ही बड़ी ही दिया स्थित था वह पश्यांद् बर्हा ।  
 ये ही अथन रहे प्राक्षय ने, मातृक ने जिनो मुन-अ—  
 रजन-दिया गति दुग्ग दिया का, बड़ी दिया उसका उष—

( ३२ )

'कता क्रिमानपि का भी जा इन विचन विगिनने घोद बना;  
 जान-बूझकर वह मरता था गया यह ऐसा जान भजा ।  
 इति हान, उन्नत नृगया जो उन्नत प्रीति पर दीप गदा,  
 गर्जनो के जेय दायो पर उतिर्वा कर्ता राय बर्ही ।

( ३३ )

"होयो पर दायो ही रजग, अनशानो क्षासन कर्नी ;  
 दायो दायो कर्ता पर कर्ते अदि-दायै रोनी न कर्मा ।  
 पूर धंजना, गन्ध-व्यासा, निर्धन बन रोना-माना—  
 अनन्वय विदित, धा का उन्नत, शानो विदित न वह दाना ।

( ३४ )



( ३२ )

“मानव से भी श्रुति होती है, वह भी प्राणी कहलाता—  
 बँड मित्रा उसको, जो जैसा बोता है, वैसा पाता ।  
 जो होना था, वही हो चुका, और विध गया सो मोती,  
 सती गई को जाने देती, रही-सही न कभी खोती ।

( ३३ )

“पतिव्रता के हृदय-सिंधु में अधिक कृपा है, कोप नहीं,  
 नृण - पावक से ऐसा सागर हो सकता क्या उष्य कहीं ?  
 जहाँ प्रेम है, दया वहीं है, जहाँ दया है, धर्म वहीं—  
 जहाँ धर्म है, वहीं विजय है, जहाँ विजय है, मुक्ति वहीं ।”

( ३७ )

सुनकर ऐसी करुण गिरा को लगा सोचने वह द्विज-वर—  
 “हा ऋतुपर्यं - सारथी होकर यह देता ऐसा उत्तर !  
 नल राजा तो रूपवान थे, यह कुरूप है कैसा नर !  
 फूट-फूटकर क्यों यह रोता, है कुछ भेद यहाँ गुस्तर ।

( ३८ )

“इसी श्रेष्ठ उत्तर को लेकर चल देता हूँ वहाँ अभी—  
 ईश दयानिधि सफल करेंगे आल नहीं तो और कभी ।”  
 पहुँच विदर्भ देश के अंदर कुछ दिवसो पीछे द्विज-वर—  
 हर्षित हुआ सुना भैमी को सुन आया था जो उत्तर ।

( ३९ )

निज माता की आज्ञा लेकर द्विज सुदेव को बुलवाया ।  
 हाथ जोड़कर नम्र भाव से बोली उससे नल-नाया—  
 “हे 'सुदेव' ! मुझ शोक-श्रुता को तुम्हीं भिलानेवाले हो ;  
 कुशल-समाचारों का मुझको सुधा पिलानेवाले हो ।

( ४० )

"मा-थारों म नुक्ते निवाया, आभारी है यह काया ;  
 एषु ! तुम्हारे श्रेष्ठ यत्न में पुनर्जन्म मैंने पाया ।  
 ज्ञाओ तुम मादेंत हम सनप, समाचार पति के साथो ;  
 रहने में अनुपपन्न-सूत बन, ज्ञाओ तुम जहदी काओ ।

( ४१ )

"यही हिमों से ना मत कहवा, वही भूप को बतलाना—  
 हमपती का धीर स्वयंवर कल होगा यह बतलाना ।"  
 इमो तरह ने काम हुआ मय, कि सुखवर का सुनकर—  
 सोकर भक्ति कइ यह नूर ने गुरुक का बुझवा संवर ।

( ४२ )

"हे मिर मूत ! धरम-दिया के दिवजाने का यह घरमर,  
 किनु गामो पदा हुआ है पथ रिदभ का मति गुरतर ।  
 उम उजात ना हइ रिमान है, या जो नइ हो साक्षाचार,  
 धर्म ने क्या कइ दिया तुम, जो उमने पेवा किया रिधार ।

( ४३ )

"कइ दीपदुर्ग मकोना कह पा, कइना उम मरत छे जो ;  
 मभापुन में मरिदुता का मत मको दा, तो भर जो ।  
 मुह के काम वही यह क'क ! टंगी-देव का बात नदी,  
 है कइ देता धार, मभागत हम मजकना जग ! नहीं ।"

( ४४ )

( ४५ )

इतना कहकर चला वहाँ से घंट गरल की-सी पीकर,  
शोक छा गया और आ गए नयनों में लोचन ल-शीकर ।  
जगा सोचने वह, "दमयंती कर सकती यों कभी नहीं,  
किंतु असंभव भी हो जाता संभव जग में कहीं-कहीं ।

( ४६ )

"दायण दोष क्रिया है मैंने उसका दंड भयद भोगा ;  
जैसा काम क्रिया है मैंने, है वैसा ही फल भोगा ।  
होकर गुणी बना मैं दोषी, इसमें कुछ संदेह नहीं,  
किंतु वहाँ गुण भी अवगुण हैं, जहाँ हृदय में प्रेम नहीं ।

( ४७ )

"ज्ञान-बुद्धि-दत्त दो जाता है मनुज कष्ट में पदा-पदा ;  
कर लेता है कभी-कभी वह काम कहे से वदा कदा ।  
आगे-पीछे की सुध उसको नहीं ज़रा भी रहती है ;  
भाग्य-भरोसे ही बस उसकी जीवन-नौका बहती है ।

( ४८ )

"मानव-ज्ञाति दुःख के मारे भला क्या न कर सकती है ?  
प्राणों से क्या प्यारा, पर वह उनको भी हर सकती है ?  
मरता फहो क्या नहीं करता, वह सब कुछ कर लेता है ?  
निज को करके नष्ट, कष्ट वह औरों को भी देता है ।

( ४९ )

"रमणी स्वाभाविक ही चंचल, है अदूरदर्शी होती ;  
त्रुटि होने से विकृत हुई वह पति के भी यश को खोती ।  
पति का अति परवेश-वास है पत्नी-प्रेम-नाराकारी—  
और अतीव समागम भी है स्नेह-सूत्र का संहारी ।

---

श्रीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः । शयमरः । जल-कण ।

( १० )

"सुन्दर अजग दुई मा भैमी सुख-हाना है नही कभी,  
 अपेकि पिता, माता, सुत, कन्या हैं ये उभके माप सभी ।  
 मेरे द्विये तुम का तजना, प्रेम - सत्यता बतलाता ;  
 भनाधार का निर्या मानूँ, यही चित्त में है थाता ।

( ११ )

"इस ज्ञान में जाग्रत-जाग्रत में जो उभका रह सक्या,  
 नही नरम में मनी-चित्र भी है पर को पति कह सकता ।  
 सुनि कस यद मुझे तुजाने, या यद सचा ज्ञान सभी—  
 इस हर लूंगा कड जाछ, त्या में जिता कहूँ प्रभा ।"

( १२ )

येअ जेठ अजग भूर का तद निरुमें ती नार बजा—  
 'योप . का अजित जने और गत मे वात भजा ।  
 पर-रा का रर मुन ली, देना त ही दरडे नतन ।  
 नर न, जामन वाचके का, मुता सिधु ने शुक्तिवदन ।

( १३ )

सुन्दर-अजग-अजग-अजग-अजग-अजग—  
 वरदा ये नर मे ननी गरी शनिनी दगद-दमक ।  
 वरदा अजग अजग मे वर उभ ल, गिरा अ नू पर—  
 वरदा मे वर नराम - वर उभ उभ उभ उभ उभ उभ ।

( १४ )

वन में करके सृष्टि वृष्टि की, पवन हो रहा था स्पन्दन—  
घनन-घनन शब्दों से उसके गूँज रहा था सारा वन ।  
( १५ )

देख हयों का वेग-संग्रहण छ लगा सोचने वह नृप-वर—  
अश्व-तश्वविद् 'शालिहोत्र' यह या है कोई अजर-अमर ।  
नल राजा यह कभा नहीं है, क्योंकि है ना यह शोभन-जन,  
देखा है न, इसलिये मातलि इसे मानता मेरा मघ ।  
( १६ )

इय-विद्या - शिचा पाने को इसे प्रलोभन दिखलाऊँ ;  
अक्ष-गणित विद्या को मैं भी इसे प्रेम से सिखलाऊँ ।  
यों विचारकर कहा भूप ने—“हे बाहुक ! हैं अश्व विक्रत—  
ठहर इसलिये इसी स्थान पर, और देख मेरा भी बल ।  
( १७ )

“नहीं गणित-विद्याविद् मुझ-सा तुझे मिलेगा काई नर ;  
चमत्कार अथ दिखलाता हूँ, देख वृक्ष पर सारथि-वर !  
इसकी एक बड़ी शाखा में लटक रही है जो भू पर—  
चौसठ फल है, नौ सौ दल हैं, सूखे हैं जिनमें सत्तर ।  
( १८ )

“जो तू मेरी नहीं मानता, तो गिन ले जाकर तरु पर ;  
गिनने में ही त्रुटि हो सकती, किंतु नहीं इनमें अंतर ।”  
गिनती कर नल बोले—“मैं भी इय-विद्या को सिखला दूँ—  
जो तुम मुझको यह सिखला दो, तो मैं भी सब बतला दूँ ।”  
( १९ )

“बाहुक ! वृक्ष अक्ष-विद्या में मुझ-जैसा जन कहीं नहीं ;  
उसकी भी मैं शिचा दूँगा, बिना कहे ही तुझे यहीं ।

\* रोकना, चलाना, वश्य रखना ।

बाद करो इन दो मंत्रों को, तिनका यह प्रभाव गुस्तर—  
सिखला देगा विद्याओं को तुम्हें एक पक्ष में नर-नर !”

( १० )

एक विष्णुदत्तरोवर रूपर नन्न ने जाकर ज्ञान किया,  
उसने लगे मंत्र फिर मन में सरस्वती का ध्यान किया।  
मंत्र-प्रभाव-दृश्य उस कलि ने नव-तन में बाहर आकर—  
नन्न माय में कहे वचन ये हाथ जोड़कर, घबराकर—

( ११ )

“हे वसुधा के रथ ! मनुष्य, हे सुवर्णों के पर-वैभव !  
हे नृप-कुल के सुदूर दीपक ! मनुज-जाति के हे गौरव !  
धन्य पिता-माता हैं तेरे, धन्य-धन्य तू कहलाया,  
धन्य-धन्य तेरी काया है, धन्य-धन्य तेरी बाया।

( १२ )

“तेरे महत्त्व नहीं प्रिभुवन में कहीं मिलेगा द्वितकारी,  
अहिनीष तू अहंता है मुर नर-भुनि-मानसहारी।  
दुष्-प्रेमा तू ही है तेरा प्रेमा भूप न और कहीं,  
कर यकथा है देवताप मा तेरा समता कभी नहीं।

( १३ )

“मेगा-नदा चाप में दाद-दाद देव न होना है;  
इन मयों को गति और मा पिता-मानि को खोना है।  
इसमें मैं अब बाहर आ-ए पुन्य कला पही दिन—  
सरस्वती तू मुझे मानता कर इ मुझको प्रभी समय।

( १४ )

जुरू पर तो क्या, नहीं पड़ेगा उस पर भी प्रभाव मेरा—  
 दमर्यती का शाप यादकर नाम रटेगा जो तेरा।”

( ६५ )

नल ने कहा—“कले ! मैं तेरा कर सकता था मुँह फाला ;  
 क्रोधित दोकर अभी शाप मैं था तुम्हको देनेवाला,  
 किंतु आज शरणागत बन तू है पैरों पर पवा हुआ—  
 इससे मुझको रोक रहा यह वीर-धर्म है खदा हुआ।

( ६६ )

“अपने से यलवान शत्रु को सदा मारना है। अर्द्धा ;  
 जो निर्बल पर हाथ उठाता वीर नहीं है वह सखा।  
 जा तू जहाँ चाहता जाना, मत आना अब हे निर्दय !  
 नहीं सताना किसी मनुज को देता हूँ मैं तुम्हें अभय।”

( ६७ )

इसके पीछे रथ पर आकर अश्वों का फिर चला दिया—  
 और शीघ्र ही पहुँच लक्ष्य पर नल ने अक्षय सुयश बिया।  
 स्थंभन-शब्द श्रवण कर भैमी कुछ-कुछ मन में सुवित हुई ;  
 नल-रवि-उपा-आशा उसके प्राची-उर में उदित हुई।

( ६८ )

योगी जैसे ब्रह्मज्ञान को, अति बोभी जैसे धन को,  
 पंडित जैसे वर-विद्या को, शूर-वीर जैसे रथ को,  
 असरी जैसे सरस सुमन को, नोरज जैसे दिनकर को,  
 कुमुद चंद्र को, विपथर मणि को, महातृपित जल-सुत सर को,

( ६९ )

चातक स्वाति-विंदु को, लजना महा कुलीना निज कुल को,  
 उरगी मज्जाचल-चंदन को, हंसी मोती मंजुल को—

घोर चादती जैसे क्रोड़िल मात्र-नवरी-स्पर्शन को—  
 थीं उनमें भा अधिः चाहती दमयंती नव-दयान को ।

( ७० )

रज के विना मीन को जैसे तडक रजो भी वह पले,  
 उद्वज रही या रथ-घन-नय नुन मंडु नयूरी हो जैसे ।  
 उना जिन तरः उना-नाथ-हित 'दना-सिखर' पर किल्लव छ रही—  
 उनी तगु बड़ पिटु गेह में नत्र के हित थी विरस रही ।

( ७१ )

घोरक पर दरं-नमन नेमा-शिरः-भाण्य थे तडक रहे ;  
 दिश्याग थरने में नानी वाम छग थे फडक रहे ।  
 भठुम-धनगत कात्रा नुसकर विना फड़े हा जाते थे ;  
 मजुन मरी होने का नाता प्रागे घाने जाते थे ।

( ७२ )

नेता-नवारी पर नवनी ताराय हरीं पला या ?  
 नागा हनका इदन नि नि-दिह उमके घाने रस्ता ना ।  
 एका हः हः अर गो १० इय-दरिद-गहन नु दर ;  
 नुवन का तुम मना ना हा गदे हा गण्ये धुन पर ।

( ७३ )



इसको यही ज्ञात होता था मिय-शरीर-भालिगन कर—

रथ से उडे हुए वे रज-कण पकते थे आकर उस पर ।

( ७५ )

उन्हें सूँघती, नहीं हटाती, मुग्ध अलिनि-सम हो उन पर,

क्योंकि उसे आता था उनसे नल-सन-नखिन-गंध सुखकर ।

वह ❀ पराग-सौरभ होता था जैसे-जैसे महा विकट—

वैसे-वैसे मान रही थी वह दिनकर का उदय निकट ।

( ७६ )

हय †-शाजा में मिला बाहुक से और काम की बातें कर—

कहा केशिनी ने भैमी से आकर के छत के ऊपर—

“सखी ! शोक अब क्यों करती हो, शांति मिलेंगे जीवनधन ;

दो उपहार, न दो चाहे तुम, है उपहार-रूप यह क्षय ।

( ७७ )

“कंकण क्यों देती हो मैं तो लूँगी कुछ उपहार यदा ;

आता ज़ोर हार देने में, सड़ता है जो पढ़ा-पढ़ा ।

नहीं कहूँगी सही बात मैं उसके आज विना पाए ;

मैं क्या करूँ, मुँह न चलता है विना मिठाई कुछ खाए ।

( ७८ )

“दे दो नयों न उसे अब ही तुम माताजी से मँगवाकर—

बार-बार थोड़े ही आता सुनो सखी ! ऐसा भवसर ।”

“अरी केशिनी ! योंक्या कहती, पहले मीठा मुँह कर ले—

ले-ले कंकण और हार भी, गाँठ बाँध इनकी धर ले ।

❀ नल के मुख-रुमल का पराग । नल ज्यों-ज्यों निकट आते थे, त्यों-त्यों इसका गंध भी बढ़ता जाता था, और प्रातःकाल होने की सूचना भी मिलती थी । † दमयंती ने पहले ही से उसे वहाँ भेज दिया था ।

( ७१ )

“पर कइ दे अब सारी बातें मही-सही हे सखी ! प्रिया ;  
 भरी, इठीली ! ये ले सज कुछ, कैसा तेरा कठिन दिया !”  
 “यह तो हँसी मात्र थी भैमी ! भ्राई हूँ नल-दर्शन कर—  
 आज वदा उपहार यही है, होगा क्या इसमें बदकर ।

( ८० )

“मरती, पदुना उनके क्यों वे देख पकटते हैं पल-पल ?  
 क्यों भला साँक उन जाने, और कभी हो जाते नल ।  
 एक वस्त्र है ऐसा, जिसमें धोरा मयको देते हैं—  
 मदन-भोदिनी मूरन को भी भक्ति फुरूप कर लेते हैं ।

( ८१ )

“क्यों ऐसी प्रिया मीनो दे, क्यों ऐसे चालाक धने ?  
 राजुर गेद पर भा भ्राज के क्या न रहें वे धने-उने ?  
 तिन भरो के चोर ज-को, रिठ पात्र ले पात्र भरते ,  
 तें दिव्य जन भ्रष्टे, रत-नरा कट्टे, बहुत करते ।

( ८२ )

“नदा कटि ला म इ उतन जगल पशिय मुन्दे दिया ;  
 म हा ने हा जगल, भेद हो तो भी मने जग प्रिया ।  
 कालरतः हो नर रत इ ऐसा जग जमाने म ?  
 द्विर मकल नन कमा मूर हा नाग्य प्रितुनि रमाने म ?

( ८३ )

( ८४ )

“चाहे शिव के जटाजूट को ढक ले देव-नदी आकर,  
चाहे चंद्र छिपे मेघों में, ढकें घनों को षक आकर,  
चाहे सारे भूमदल कां ढक ले एक मृत्तिका-कण—  
किंतु छिपाने से न छिपेंगे तेरे प्रिय के मधुर वचन ।

( ८५ )

“देह पलट ली, नहीं हृदय पर उनसे पलटा जाता है ;  
मुख बदला तो क्या, जब बायो नहीं बदलना आता है ।  
श्रंग-रंग से तेरे प्रियतम मन का रंग छिपाते हैं ;  
हाथ छुषाकर जाते, तां भी सखी-हृदय में पाते हैं ।

( ८६ )

“गेह पलटना, देह पलटना, हैं ये बातें साधारण—  
किंतु नहीं बदले जा सकते जन से कभी कार्य-कारण ।  
तन का रंग पलट लेने को, कौन पलटना कहता है—  
कज्जल-जल में मज्जित होकर हंस हंस ही रहता है ।

( ८७ )

“तेरे पाणि-अहस्य के पहले, याद करो, वे ही हैं नल—  
जिनने सृष्टु वचनों से मुझने मोंगा था पीने का जल ।  
उस बायो का—सुधा-सरित का—कथ मिठास जा सकता है ;  
नील-फठ के नहीं फठ में विष-प्रभाव आ सकता है ।

( ८८ )

“इंद्रसेन को देस शंफ में, आँसों में आँसू भरकर—  
उनने कहा निसासा लेकर—‘था मेरे ऐसा सुत-वर,  
किंतु कहाँ बर चला गया है, यह है मुझको ज्ञात नहीं—  
उसकी भगिनी, जननी भूली जाती है दिन-रात नहीं ।’

( ८१ )

“यस इवने मे ताप गर्द मै, हँ ये शपर-वेप-धर-गज,  
 श्रात्र भाग्य से हाथ धा गए फरनेवाले हमें विक्रम ।  
 देकर मोदक वचन सिसाया इंद्रसेन को मैंने यह—  
 हाथ जोड़, तू इन वचनों का इन मानव से जाकर कह ।

( ८० )

“बोला यश पाय वह जाकर—‘पिता-हित श्रम रचो चिता—  
 मैसी मुष जा पानपिता ने सोपा मुक्का तुम्हें पिता ।  
 मैसा माता दुखी हा रहा, जो विवाह मे तुमने दी—  
 उमी धँगुनी का धम कर पर आज चढ़ा है उसने ली ।’

( ८१ )

“दाना कटना या कि उन्होंने उमे धँक में उठा लिया—  
 कर्मे हुए वदन, फिर उनने तार-वार शक्ति प्यार किया ।  
 रथ का श्रात्र कि दिया मुझ उसके कर मे रोना दिया,  
 उमे धननाज श्रात्र मे उनने पैन पानावद् दिया ।

( ८२ )

‘मुक्कभ रुदा—‘साप हा कीइप, मैनि-राधार कर डोगा ?  
 यह बाइक लगे इतना दुर्बल तथा दुमने हुए हुए भोगा ?  
 नज का ता है पता लही, रूप हागा कीन जिता इसका ?  
 इन भा वहाँ इतने साप मुझ-वदन नजिन जिमका ।’

( १४ )

“इससे मेरी दुखी सखी ने आज स्वयंवर-प्रण पाजा —  
जिससे नृप-सम्मुख वह फिर से बाले नल-गत में माजा ।  
नल अवश्य हैं यहीं कहीं पर, यह विश्वास हमें नर-वर !  
इस बालक की दुर्बलता का ध्यव उनको ही सोच-किन्कर ।

( १५ )

“आज अवश्य स्वयंवर होगा, फिर ये नल-दमयंती का—  
जिसमे सखी-शोक मिट जावे, भ्रम भी नैपथ के ली का ।  
छोड़ो सुत को आप, इस तरह क्यों इसको वहजाते हैं ?  
पहचाने पीछे भी देखो बहुरूपे न लजाते हैं !”

( १६ )

“इतना सुनकर जान गए वे, मुझे न इसने पहचाना ;  
जान रही है केवल सारथि, नैपथ नहीं मुझे माना ।  
इससे दिव्य वस्त्र को पहना, जिससे उनका अंग हुआ—  
महा मनोहर, मानो भू पर फिर से अन्य धनंग हुआ ।

( १७ )

“फिर क्या था पहचान गए सब और भीम भी जान गए ;  
श्रेष्ठ अयोध्याधिप लज्जित हो अपनी श्रुति को मान गए ।  
इंद्रसेन के साथ कर रहे हैं उनका शृंगार सभी ;  
तुम भी ध्यव नौ छ-सात सजो, वे आनेवाले अभी-अभी ।”

( १८ )

“नहीं सबूँगी हे सुकेशिनी ! क्योंकि नहीं है कुछ बदकर—  
इस मेरी आधी सादी से, है जो भूपण इस तन पर ।  
इसे, मुझे आधी की जिसने वह नर-वर जब आवेगा—  
तब होगा शृंगार और फिर वही चित्त में भावेगा ।”

( ४२ )

पूछने में शक्ति मुदित था गई भैमी-माता—

झिझने नख का हाल कहा, समयको सुखदाता ।

मतिपाई मुनकर जिसे सौख्य-सर में यदती थीं,

यात-घार श्रृंगार-हेतु उसको कहती थीं ।



## पंद्रहवाँ सर्ग

( १ )

अंभ-अंबर - अचल - अचला - अनिल में—

स्वच्छता का स्वच्छ शासन देखकर—

ये मुदित मन में बहुत ही मनुज सब—

सौख्यदा शुचि - शरद - शोभा देखकर ।

( २ )

पापरूपी पंक पृथ्वी पर न थी,

किंतु रज-कण-पीतला थी कांतिदा ।

नील-नीरज, नवल - नीलम के सदृश—

नीलिमा नभ में निरी थी शांतिदा ।

( ३ )

देखकर के मालती के फूलना—

और कुसुमित काँस-सिवता-शीतला—

जात यह होता वहीं फिर देखकर—

वसुमती पर बालुका की पीतला—

( ४ )

मान, मानो मोह से जदमति मही—

निज रजत-धन-कणक-कण को ध्राद्रंतर—

---

\* मालती और नील के फूल तो चांदी के मनान और पद्मिनि मिट्टी सेने के सरग ।

भूप देना ल घोड़, है फैला रही,  
भूप देने, † धय उन्हें निज देह पर।

( २ )

ही गईं या भूमि पर उपदेश-हित—  
बो जानों का भान्य की विपरीतता।  
गरद-यश की रसेनता तो है इधर—  
बधर पात्रम - मृत्यु - जाता पीतता।

( ३ )

सम्पत्ता क्यों घा गईं आकाश में ?  
मिद गईं द्रव भूमि की मानो भ्रया।  
आह के जनपाह † इसमें भेजती—  
वह न दिव में नाप की कड़ने कथा।

- )

वा टि कर घनरवाम मुज-स्पर्धा मदा—  
हुँट दे है ज्वाभ-जल की श्यामता—  
विषुस १३३ १३ ५६ गईं पा। एमा  
मव यगा रुजमे यही अभिमानता।

( ४ )

है मदाई, है निकाईं मय मगद -  
कीर : मूर - रत्न - सोना - मयरा,  
मय क जेवा डी मदा कया मदा  
मय मया - मय मे है मयता।



( ६ )

आपगा में, आपगा छ के नाथ में,  
 कूप - जल, जलजात, वापो-नीर में,  
 अग्नि में, कानन, महीधर-मार्ग में,  
 मेदिनी, आकाश, शुद्ध समीर में ।

( १० )

काँस - क्लिका में, कुमुद में, कुद में,  
 मालती में, मधुप में, मधु † वित्त में,  
 शरद ही है शरद वस, सब धोर अथ—  
 चंद्रमा में, चंद्रिका में, चित्त में ।

( ११ )

क्यों बढ़ा यों तेज सूर्य - प्रकाश में ?  
 है जिसे लख कांक-लोक अशोक में ।  
 अणुविभा ‡ आत्मा चली मानो गई—  
 धन - मरण पाँछे विभाकर - लोक में ।

( १२ )

सिंधु - सरिता - सर - मलिज को ले रहे—  
 घटज × वन, कुंभज उदर की शरण में ;  
 सिद्ध है इससे, महजन में भरी—  
 शक्ति रहती है नहीं उपकरण में ।

● सरिरपति, ममुद्र । † शब्द रूपा क्रमलों का धन । ‡ अणु-प्रभा, विजली ही मेघों का आरमा यी । जब वह ( उनकी देह ) नष्ट हो गई, तब वह सूर्य-लोक में चली गई, अतः सूर्य में अधिक प्रकाश प्रकट हो गया ।

× पटोत्पन्न ( कुंभज ) अगस्त्य ।

( १३ )

नीरु छ का यों देख सारे सूखना—  
 पड़ गया है कष्ट में छय मोन-मन ।  
 विगड़ जाती शीघ्र यों उनको दया—  
 जो रहे हैं जो पराश्रय दीन जन ।

( १४ )

अरु रही द्विजराज को, नृगराज को—  
 जो विप्रजित कामिनी - गव्वगामिनी ।  
 देख उइ भी मंद गति अरु हस की—  
 कोप में भरकर बना है भामिनी ।

( १५ )

अथ रे मो हो गए अरु रूप-शिरसो—  
 पृथु करने जो न धे ऊँची कभी ।  
 नाभिनो - सुगन्धनिपां का सर्व अथ—  
 धरि - संजन कर रहे धंजन मभी ।

( १६ )

पइ जगदा तू हे न जो राधा पदा—  
 जो जगत् न अथ रिता क्यों जो रहा है  
 जो रहा अ, पइ न अज को जो रहा है ;  
 अथ रहा अरु निरद-निदुग पाए हा !

( १७ )

चंद्रमा को देख चारु चकोर - गण—  
 चित्त में है इस तरह भव क कह रहा—  
 "कौन - सी यह चंद्रवदनी का वदन—  
 ग्योम में है चाँदनी छिटका रहा ।"

( १८ )

जिस तरह आप, गए उस ही तरह—  
 जंतु छोटे, जो जहाँ के थे वहाँ,  
 क्योंकि इस संसार सार - विहीन में—  
 बहुत दिवसों तक डहरना है कहाँ ?

( १९ )

द्विविजय को चक्र पड़े भूपात्र भव—  
 ब्रह्म करने दीन - जनता - विस की ।  
 ज्ञान के संतोष के आए विना—  
 है असंभव वृत्ति होना विस की ।

( २० )

† ऐसे सुंदर - सुखद शरद में भीम-कुमारी—  
 नाथ-विरह की व्याधि खो चुकी थी भव सारी,  
 किंतु नहीं शृंगार अभी तक वह करती थी ;  
 केवल पढ़ने हुए एक आधी साढी थी ।

( २१ )

सखियों की अति श्रेष्ठ नीति भी उसे न भाती ;  
 नहीं समझ में बात एक भी उनकी आती ।

कहती थी वह उन्हें--"भला क्यों हठ करती हो—  
मेरे मन में भाव हर्ष के क्यों भरती हो।"

( २२ )

"किपका कहना मान आज शृंगार कहें मैं ?  
हिन उपाय से दुःख-दाह को और हलें मैं ?  
थन छा की शृंगार स्वयं ही छोड़ चल यसा—  
तो कैसा शृंगार, क्योंकि वह बनी पर-बसा ?

( २३ )

"पति दा सा-सौदय और शृंगार शून्य,  
हैं सही शृंगार चरित्र-भूषण का मूढ।  
है यथा दा आज शृंगार जब उगसे करता—  
तो नृदा किम तरह दे म धुवि को भरता ?

( २४ )

"नाकनाथ न विना वेद न जा सजती है—  
नाम-द्वय न धन धामिना यह बजती है।  
नृप न मयमे श्रेष्ठ नृपदा दाना विपत्तम—  
रदना उलके मय देष दे का का अनुपम।

( २५ )

"नाचनन्य आरम विना मैं इव न कर्णगा,  
नृक रचन न विना विम न मृग न भर्तृगा।  
विचनन यह शृंगार विना है मेरा श्रम—  
नरि कर्ष इ मति न इ नरा मनामना।"

ये दोनों के नए-नए उत्तम पद-भूषण ;  
मुद के मारे कूब रहे थे वे अब चण-चण ।

( २७ )

इमयंती के सदृश इंद्रसेना भी भोली ;  
इससे उसने शीघ्र भरी माता को सोली ।  
हाल दिए सब खेल मुदित अति मन में होकर—  
गिरी अंक में स्वयं मलिन उस सादी छपर ।

( २८ )

उसका भाई बटा खड़ा था किंतु वहाँ पर—  
माता को वह देख दुखी था, मलिन वेप-वर ।  
भा उसको संकोच, अंक में कैसे जाऊँ ?  
क्यों वस्त्रों को नए नयों को मलिन बनाऊँ ?

( २९ )

इससे जाकर पास लगा वह कहने—“माता !  
क्यों तुमको दिन-रात इस तरह रोना भाता ?  
देखो, मैंने वस्त्र नए पहने मज्जन कर—  
कैसे - कैसे और खेल लाया हूँ सुंदर ?

( ३० )

“श्रेष्ठ किकियायी एक पिताजी से लो ली है—  
उसको मैंने अभी इन्द्रसेना को ही है ।  
जो चाहो, तो खेल तुम्हें भी मैं दे दूँगा—  
और अंक में पदा हुआ हाथी खे लूँगा ।”

( ३१ )

“माता ! देना इसे न मेरा सुंदर कुजर—  
मत देना,” यों कहा इन्द्रसेना ने रोकर—

"इसने मेरा खीन लिया है काका वानर—  
 चुम्बकिका ॐ एक फेकर हठ से मुझ पर।

( ३२ )

"इसे पिताजी कड़े दे चुके खेल मनोहर ;  
 भाया है यह खेल ऐक्यकर, उन्हे ताककर ।  
 नागा ! मेरा ये एक भी इसे न देना—  
 भाया है यह इसे सदा बेना - ही - खेना ।"

( ३३ )

"बनो अपने खेल, दौड़कर मैं जाता हूँ—  
 घोर नृमरे गेले पिताजी से काका हूँ ।  
 वैजङ्गमा नदी तुम्हे, नावा का उम पर—  
 जाग हूँ मैं बनो एक ननाता मुँजर ।"

( ३४ )

वो इतर १३ जाज यमा गे तो न नृ पर—  
 दीहा वाइरु कमर, कमर - नयनी मैं मरकर ।  
 संधिनी योता—"इस १ नृ मर पर बेधना,  
 दिगु 'नवा का इन्मेन १ देकर याना।"

( ३६ )

“कन्या भी दो-चार वर्ष की ही यह जानो,  
क्योंकि धरोहर सदा इसे तुम पर का मानो ।  
चलते, कर छाँ-स्याग सभी हैं निज-निज मग में—  
नारी - जीवन बहुत कठिन होता है जग में ।

( ३७ )

“हे स्त्री को परतंत्र इसलिये रहना पड़ता—  
सभी तरह के कष्ट और है सहना पड़ता,  
किंतु उमे सगतंश्र्य पूर्णतम तव मिलता है—  
जय उसका मन-पद्म प्रेम-रवि से खिलता है ।

( ३८ )

“सुत का क्या विश्वास, हाथ छ लो पकड़े थाकर—  
सतियों को भी प्रेम - जाय में जकड़े जाकर—  
वन वह भी इच्छंद, गृहीता को तज देता—  
है कंबल भगवान नारि - नौका को खेता ।”

( ३९ )

“माता ! नौका कहॉ, हमें उसमें वैठायां ;”  
इंद्रसेन ने कहा—“पिताजी, तुम भी आओ ।”  
नल को आते देख छिपीं फिर सखियाँ सारी ;  
उठ न सकी, या सुता अंक में, भीम-कुमारी ।

( ४० )

पीछे से उस समय शीघ्र फिर नल ने आकर—  
भैमी - लोचन सूँद कहा—“हे प्रिये ! सतोषर !  
क्या मुँह जेकर आज तुम्हारे सम्मुख आऊँ—  
कैसे कलुषित और कपटमय देह दिखाऊँ ?

( ४१ )

"पहले कर दो घना, प्रिये ! खोलो मुझ सुदर—  
 मैं अपराधी खड़ा हुआ हूँ उदा यहाँ पर ।"  
 माना को घप देय पुत्र ने वचन यों कहे—  
 "नया यह कोई खेल, घना जो आप कह रहे ।"

( ४२ )

"नागाजों ! जो राम तुम्हारे डै, तो दे दो—  
 उमड़े बदले आप आज यह हाथों ले लो ।  
 शोक पितानी ! क्रिया, मूँद लो शरीरों धाकर—  
 प्रिये ये दिन-रात बहाती थीं यस सागर ।"

( ४३ )

मोड़ - विदु के सज्य दूबकर भोम-कुमारी—  
 उतर के ही लिये यत्र कमो थी भारी ।  
 मज्जा थी इ बार किस तरङ्ग उसके अंदर ;  
 पों इ इतने उगा विदु से शीघ्र निरुद्धर—

( ४४ )

"देना जाहो धार नदी कर भी निद्र इशंन—  
 इतने शों इ मूँद मरीं जनन जीवन-धन !  
 देव हूँ मैं घना, नया का मैं हो प्यामो ?  
 पतनी को के इ तरङ्ग घना इ मज्जा शायो !"



( ४६ )

किंतु घात थी यही, गूँथकर माला सुंदर—  
 रख छोड़ी थी भीम-सुता ने वहाँ निकटतर—  
 नल-नल में वह गई उसी से थी पहनाई,  
 पर संभ्रम से याद नहीं वह उसको आई ।

( ४७ )

ईंद्रसेन ने कहा—“क्यों न दी सुकरो माता !  
 इस माला को क्योंकि पिता को मैं पहनाता ।  
 पहना दी जो स्वयं अभी तूने यह माला—  
 उससे इनका कंठ हो गया है छविवाला ।”

( ४८ )

अथ क्या था सब भेद खुल गया वहाँ परस्पर ;  
 पिक-वचनी लग गई गान करने मंगल-कर ।  
 होती थी यों ज्ञात मही की शोभा सारी—  
 पति-वसत से आज मिली है जो तनुधारी ।

( ४९ )

मानो जो पहचान प्रिया को स्वयं खिल रहा—  
 शकुतला से वही शपित दुष्यंत मिल रहा ।  
 अथवा असली रूप किष् धारण शिव-शंकर—  
 मिलते तापसि - शैल - सुता से समुद परस्पर ।

( ५० )

कामवामां की वाम दृष्टि से मानो बचकर—  
 काम मिल रहा काम कामिनी से या तनु-धर ।  
 अथवा मिलता भीम-सुता से नल ही नृप-वर—  
 फड़ें वर्षे पश्चात श्वशुर - मंदिर के शंकर ।

\* कल्याण-कारी नशदिव । † शिव ।

( २१ )

दोनो के प्रेमाश्रु इस तरह खगते सुवर—  
 मानो गिरते सुधाधरों पर दो मुक्ता-वर ।  
 धार फनल वा फनल डालते थे कमलों पर—  
 या नल - भेमा यदा रहे थे आँसू सुलभर ।

( २२ )

दोनो मन ने सोच रहे थे याव एक-सी ;  
 देव किमी का नहीं ननुज तो सदा परवशी ।  
 मो परवश दुरा दूसरे ने भा पाया—  
 जीव एक ई पति - पत्नी का, ई दो काया ।

( २३ )

नल बोले—“दे प्रिये ! आप न-न-मृद जात्रा—  
 पर मोह श्रुवार जीव ही पाऊँ आशा ।  
 जा-दु-का को नूँ, मनोहर जेय बनाकर—  
 निरद-रथा उन इरा रूप-गणपय दिगकर ।

( २५ )

“दे न ननुज क दाद दुग पा मुग का देना—  
 गोक-धर क मि-न-नय नीय को मोना ।  
 काम ई भी दुना, दस मुग भी देना ॥  
 काम ई भी दुना, दस मुग भी देना है ।

। २२ ।

( १६ )

“मलि-हृत्त का अपराध, नहीं अपराध कहाता ;  
उन्मत्तों का दोष कभी भी गिना न जाता ।  
धंद्रसुखी ! मैं सुखी नहीं था विना तुम्हारे ,  
जीता था इस एक वस्त्र के सदा सहारे ।

( १७ )

“अभिज्ञान छ था अर्धभाग यह इस साढ़ी का ;  
था अवलंबन एक यहां बस मेरे जी का ।  
लगता था यह चित्र-सदृश मुझ महा विरुल को—  
वो अब इसको, पा न सकेगी नकल असल को ।”

( १८ )

देव-सर्मापित शुद्ध सुमन-मम उसको लेकर—  
प्रेम-भक्ति के साथ लिया फिर चढ़ा शीश पर—  
और कहा—“हे नाथ ! वही है स्त्रीसुखदाता—  
जिसम पति का चित्त हर्ष को सतत पाता ।

( १९ )

“हीरे, मोती, जाल सभी से है यह बढकर,  
क्योकि आपका बना विरह में यही क्लेशहर ।  
है यह साटी धन्य, भाग यह जिसका प्यारा—  
रहकर दुख में साथ नाथ का बना सहारा ।

( २० )

“एक विनय अब यही आपसे मेरी प्रियतम—  
मुझसे जो अपराध बन पड़ा है, पुटपोत्तम !  
उसके हित अब दड, क्षमा या मुझे दीजिए ;  
मन-चिन्ता को प्रमो ! शीघ्र ही नष्ट कीजिए ।

( ६१ )

'छत्र से मैंने बुझा लिया है आज आपको,  
 करनेवाले दूर आप ही छत्र - पाप को।  
 आगे प्राज्ञा विद्वज्जि की भूम-शैघरी—  
 न्यून कर चुकी छत्र बुद्धि को थी तब मेरी।

( ६२ )

"विरमे इन तो आज प्रकृति सुखी हुए हैं;  
 एक भयो-भयानाम व्यथं ही दुगा हुए हैं।  
 इन शर्तों का मनी दृष्टो मुक्तो धारण—  
 इममे देकर इह भविष्य कष्ट-निवारण।"

( ६३ )

नल ने उत्तर दिया - 'कह है कथन तुमझा,  
 तब ने ही तू विवे! नष्ट का जलन माता।  
 इ-नी शोभा नहीं माय जो तुम इन रःते;  
 निज-मुह परक बना दुःख-मुह तब से सदाते।

( ६४ )

"प्रज कसामा मुझे नार से मना दृष्टो;  
 तुमने कर्मा का तब नहीं देखा भी तैमो।  
 कल-नीम मरुत कही, विदोषो जना?  
 नल काय इ-दर का मरने बोधा।

( १६ )

“बुद्धिमती हो स्वयं जानती यातें सारी ;  
मेरा कदना व्यर्थ, व्यर्थ मैं कायाधारी ।  
सच कइता हूँ—मान रहा हूँ—भीम-कुमारी !  
सदा पुरुष से अधिक बुद्धि रखती है नारी ।

( १७ )

“पर उसका उपयोग नहीं वह करने पाती ;  
इसीलिये वह मंद और कृन्तित हो जाती ।  
स्त्रियाँ तुम्हारी तरह काम लें जो निज मति से—  
तो वाहर कुछ नहीं रहेगा उनकी गति से ।

( १८ )

“उदाहरण प्रतिकूल नदी इसके पाता है ;  
बुद्धिमती हैं स्त्रियाँ समरु में यह आता है ।  
स्त्री-भक्ति से ही भाग्य पुरुष का देखा फिरता ;  
करती है उदार मनुज का उसकी स्थिरता ।

( १९ )

“करते, किसके विष्णु स्वयं हैं गाए-गाए ?  
सत्यवान के प्राण-पखेरू कैसे आए ?  
दृच-यज्ञ को देख कीर्ति अति किसने ली है ?  
उग्र-नेह के बीच सदा स्थिति किसने की है ?

( २० )

“पूजा जाता ब्रह्म शक्ति के कारण केवल ;  
प्राणी में प्राधान्य शक्ति का ही है निर्मल ।  
हो जातीं श्रीराम-युक्तियाँ निष्कल सारी—  
आती भू पर जो न शक्ति-श्रीवदनकुमारी ;

( ७१ )

"वहाँ-वहाँ पर पुरुष अथ वन डोकर खाता—  
 वहाँ-वहाँ नस्तिष्क काम में स्त्री का प्राण ।  
 मानव का उदार किया करती है नारी ;  
 मैं ही क्या, यह बात कथाएँ कहती सारी ।"

( ७२ )

"धन्य-जन्य है प्राणनाथ की इस वाणी को ;  
 शोभा देवी यही प्राण-मे घृति शानी को ।  
 शिष्या देगा कौन बतलाया उस रमेश को—  
 देगा कौन मुग्धि, कही, उस गुरु-गणेश को ?"

( ७३ )

"जग ! शारदा क्लिप्त हुआ मन-मोहन भोजन—  
 नदी बही भा निजा, दिने में घल-घर, दन-वन ।  
 क्या उल्लास हुआ स्मार निजेगा आ । यहाँ पर ?  
 क्या रमना गली कनेगी उल्लासो पार ?"

( ७४ )

"इन धारा के अज रसों में शोभी गान—  
 भासा काया कानन पदा ही अरु, भाग्य-म !  
 क्या मुँह न मुँह कानो के हैं अथ अरुण ;  
 जैसे जो उद मुँह कानो के गेला कथा ।"

( ७६ )

नल ने उत्तर दिया—“प्रियतमे ! जो जाता हूँ—  
 नाना व्यंजन बना शीघ्र ही मैं आता हूँ ।  
 स्नानालय तो आप, भोजनालय मैं जाता—  
 देखें पहले कौन काम करके है आता ?”

( ७७ )

नल पल में चल दिए बात यह अंतिम कहकर ;  
 वह स्नानालय गई स्नेह-सागर से भरकर ।  
 कनक-कलश थे वहाँ भुवन छ-परिपूर्ण मनोहर—  
 जो भरकत-सम चमक रहे थे भूमि-भुवन पर ।

( ७८ )

रंग-विरंगे रत्न-जडित थे उनके ऊपर—  
 होते थे जो ज्ञात उस समय ऐसे सुंदर—  
 दमयंती के लिये समुत्सुक कलश हो रहे—  
 मानो थॉखें फाड़-फाड़कर वाट जो रहे ।

( ७९ )

गंगा-जल से भरे हुए होने के कारण—  
 करते थे वे ब्रह्म - कर्मदलु - गर्व - निवारण ।  
 बतलाते थे बात यही वे जलागार में—  
 दे सकते हैं स्वर्ण - मेरु को हम उधार में ।

( ८० )

सुरभित-सुमन-समूह श्रेष्ठ सौरभ से खिंचकर—  
 मधुकर-वर का निकर लोल था एक कलश पर ।  
 कृष्ण-मेघ-प्रच्छन्न मेरु-सम जो जगता था ;  
 दूर्योधन को महा मुग्धकर जो उगता था ।

\* जीवन भुवन वनम्, इत्यमरः । जल, लोक ।

( ८१ )

शोध-धर्म उ परचात मुगधिन-कोमल-चिह्न—

उगित खगाया गया भीमजा के फिर उबटन ।

सो प्रति निमंत्र-कृपित-कमल-सम-देह-स्वयं कर—

स्वयं हो गया गोरवर्णधर १ और स्वयंजतर १ ।

( ८२ )

छोटे-छोटे पात्र उगीं छि मधियाँ भरने ;

स्वदिग्ग-उत्तम पर उँड गदं वऽ मजान करने ।

होनी भीयो ज्ञात, कवित-रै-जाम-उत्तर पर—

नानो रंगान न्यान हर रङी देह-वोसि-कर ।

( ८३ )

सगियों ने छि नोन-मुता के शान उनाए—

उनाने नाते श्री मुगधिन मुनन गगाए ।

पुत्रिन-कोमल, लम्ब, भाव, सिद्धने, धम-भीजे,

जो मे खाँ पुष्ट वयो पर नीजे मीजे—

( ८४ )

नानो पुर - ४-४ - १३ - ४-४ - शक्ति दि-शाप -

धर - ४-४ - १३ - शक्ति हा पुत्रि मे जगा ।

अनन्य - ४-४ - १३ - शक्ति नन इग्री फा—

अनन्य - ४-४ - १३ - शक्ति नन इग्री फा ।



सखियों को आश्चर्य यही था उन वालों पर—

बढ़ते ही ये भला जा रहे हैं पल - पल - भर ।

( ८६ )

“इनका इतना भार कष्टोजी सखी ! सजीली !

सहती है किस तरह कमर पतली-लचकीली ?

हम तो सब थक गई, बांधना इनका दुस्तर—

आ सकते हैं कभी न घर में ऐसे कच-वर ।

( ८७ )

“शंभूराग से सखी ! बढ़ाओ शंभू-रंग को—

जो पहले ही सुगंध कर रहा नल-शंभू को ।

अंजन तो बस तुरही लगाओ आज कृपा कर—

वश ही है ये क्योंकि हमारे कर - शारदा छ- घर ।

( ८८ )

“जिनको पल में काम-व्याण-सम पैने, नीले—

हालेंगे बस काट तुरहारे नेत्र कटीले ।

याण-कृपाण-समान तोषण है ये फटाक-वर—

फिर क्यों ललित लकीर लगाती विप की इन पर ?

( ८९ )

“नजर लगाने नहीं आ सकें लज्जित खंजन—

फिर क्यों रत्ना करो जगा-ठर इन पर शंभन ।

थभी न मेरी शक्ति, लगाऊँ कैसे कज्जल ।

मीनों को भी मात कर रहे ये पन चंचल ।

( ९० )

“शंगुलियों को कौन चलाकर भला फटावे ?

ऐसा ही बस खेल तुरहें तो मन में भावे ।

⊗ पतलों उंगलियों ।

अजन मुझसे नहीं खड़ेगा सुनो धुवोली !  
 हो जाओ तुम आज भले ही काली - छ पीली ।"

( ११ )

मुन करके भयभीत सखी की बातें सारी—  
 इमवंती से लगी भेयिनी कहने—“प्यारी !  
 आधोत्री तुम इधर लाल, नीले, गौरी का—  
 काज सुँह में कहेँ आज इन चितचौरों का ।"

( १२ )

पर उससे निच लकी नहीं अजन की रेखा,  
 उँगला उसका भटा लगाकर जोड़ित - घेया ।  
 “हाथ ! हाथ !” पर दूर इटी गइ, वनी अधारा,  
 वन फिर अजन धगा श्याम के ही द्वारा ।

( १३ )

“आ गुरो दे मारी ! आज नून में जा मे—  
 गो जना पता व भजा तुइ हम मेइरी से ।  
 इइरी दो वर-कना । इइरी अरिउ कन मे—  
 तो मेइरी फिर मार रेगिरी इनके पर से ।

( ६५ )

“जो ऐसा होता न कहाँ से हूतने शोणित—  
होते तेरे हाथ न ये किसलय से शोभित ।  
विधि ने ऐसी बना करों में ललित लजाई—  
क्यों मृदुतर की कमल-नाल-सम कलित कजाई ?

( ६६ )

“फिकी मोती - लकी दशन तेरे दर्शाते ;  
दादिम के भी बीज देख जिनको शर्माते ।  
है विहंबना - मात्र मीमजा ! इनका रंजन—  
करती जिनकी चमक-दमक चपला - मद-भंजन ।

( ६७ )

“विबाधरि ❀ ! ताबूत व्यर्थ है तेरा लेना—  
क्या है इसमें धरा और क्या लेना - देना ?  
मुख का मूषण सखी ! भला मैं इसे मानती—  
तो भी तेरे लिये निरर्थक इसे जानती ।

( ६८ )

“गो †-सम विद्यावती, उमा-सम होकर सुंदर—  
तेरे हित तांबूल किस तरह है मूषण - धर ?  
प्रकृति-दत्त सौंदर्य स्वयं ही है अति शोभन—  
वह मूषण के विना अधिक होता मनमोहन ।

( ६९ )

“जो मूषण से हीन पूर्णिमा-विधु पर ऐसे—  
मूषण - धर शोभायमान हो सकते कैसे ?  
कुक्ष - पद्म पर और गंध है व्यर्थ बढ़ाना ;  
सहज - गंध पर सदा निरर्थक हूत्र लगाना ।

\* सवोधन होने से हृत्त्व । † सरस्वत ।

( १०० )

' किं समन्त नौभाग्य - चिह्न तुम इसको ला लो ,  
 मुंशरता - हित नहीं, रीति को केवल पाजो ।  
 सादी पड़ना यह विजाद की महा मनोहर ;  
 जिस पर संजुग लगा हुई है मुक्ता - न्नाकर ।

( १०१ )

"जो, मिथुपदना ! सगो ! केशिनी गदने जाई ;  
 पड़ना, दड नत जगो, दुस्री में भजा भजाई ।"  
 बनने फिर मिश्रकूल, नाग का भूपरा पड़ना—  
 पेमर, दर छोटक, बडनी, मोदा - गदना ।

( १०२ )

मल्ल - दारा का हार जिवा फिर धारज दर पर,  
 बर, बर, बर, बरनी घोर मनोहर,  
 बर में बर, बर पदन, मुद्रिका, नूपुर पड़ने—  
 भीरी में धा दूर नूनोन्निड दारना गदने ।

( १०५ )

घम-घम करती हुई कनक ल की पट्टी ऊपर—  
 पढी हुई थी एक रक्तमणि महा मनोहर ।  
 या थी मन्मथ-युगल-धनुष-वर-मध्य-उपस्थित—  
 इंद्रवधूटी एक देह को रखने रक्षित ।

( १०६ )

या कस्तूरी-चिबुक-विदु यों मन को हरता—  
 अलि गुलाब की कली केलि जैसे हो करता ।  
 कर सोलह शृंगार, पहनकर द्वादश गहने—  
 लगी भीमजा हर्ष - सौख्य - सागर में बहने ।

( १०७ )

भैमि - वामिनी दमक रही थी गृह-घन अंदर,  
 हर्षजाश्रु ही नीर - विदुर्ष थे मानस - हर ।  
 श्वेत रत्न के दीप्त दीप थे मानो वक्र-चर—  
 की वर्षाश्रुत प्रकट इंद्र-नल ने यों धाकर ।

( १०८ )

मुद - मंगल - उस्साह - त्रिवेणी चली क्लेश - हर,  
 भूप-भवन-हिम-शैल-शिखर से उमड़-धुमड़कर—  
 धौर विदर्भ-समुद्र-मध्य वह गिरी शीघ्रतर,  
 यलचर-दल † को किया रत्न, जलचर भी सुंदर ।

( १०९ )

सितमणि-गण्य-पर्यंक श्वेत चंद्र से शोभित—  
 शोपनाग के सदृश कर रहा था मन मोहित ।

---

\* भाल, जलाट । † समूह । यलचर रत्नों के और जलचरों के समान थे ।

मैत्री - धी के साथ सौख्य से नज-नारायण—  
करने डम पर भूत-काल का ये पारायण ।

( ११० )

दूजा रही थी धँवर प्रेम से अष्टसिद्धियाँ ;  
या स्वप्न में ब्रीच बहा थी सारी सखियाँ ।  
या विनय धर नहीं मृष्टि की नई सृष्टि में—  
पर उनके थी नौद योम ० की भरी रष्टि में ।

( १११ )

नज - दमधती - निगन में नुदित दुघा सब देख ;  
बजा करने दे देगिए अज साहेत - नरेश ।

## सोलहवाँ सर्ग

( १ )

जिससे निशाकर - कांति की परिशांति होती है भला,  
है जो निशा का नाश-कर, तिमिरारि को देता जला,  
ऐसा दिवाकर - कर - निकर जब पूर्व से था आ रहा,  
वह और जब सब धोर नभ में तेज था फैला रहा,

( २ )

जब मुक्त होते थे अमर - वर कमल - कारागार से,  
आते निकल थे कोक भी निज - विरह - पारावार से,  
सब गंधवाही पवन वन में सुखद - शीतल-मद था,  
वह और करता भूमि को जब स्वर्ग-सम सुख-कंद था,

( ३ )

तब शौच-स्नानादिक क्रिया से निबटकर अति हर्ष से—  
थे टहलते नल वाता में होकर सुखी स्वोत्कर्ष से ।  
आराम था सारी तरह का उस हरे आराम में ;  
या घाम हो सकता नहीं अभिराम उस तरु-घाम में ।

( ४ )

चारो तरफ जिसमें बिछी थी प्राकृतिक मखमल छ हरी ,  
जिसको बहुत तर कर रही तब मोतियों † की थी तरी ।  
रविर्धिव का प्रतिर्धिव जिनमें पड़ रहा सुखकार था—  
जिसमें अभी तक बन रहा नव-लाजिमा-संचार था ।

● इव । † भोस-कण ।

( ५ )

गाती फर्हीं थीं पुष्प-मूले मूळकर अलि-घाथली ,  
 मातां नक्षों तन में फर्हीं थीं फूलकर कलिकावली ।  
 सब भाँति के छोटे-बड़े तक ये लउं उस वाग में—  
 प्रिनमें सुखोमित धे गहा फज - फूज नाना राग में ।

( ६ )

जाराम वद भारण किए दिव के सख सुख-शाति मे—  
 रति सुन्द ही बतना रहा था श्रेष्ठ-नंदन-काति को ।  
 था नात वद गर गध का, वतु-परिषों का केंद्र था,  
 उसनी उ निदार वपार शोभा सुग्ध-मन देवेंद्र था ।

( ७ )

देों रहिर उमान में सुद-मोद भर अपने दिए—  
 भाए नदीपति भीम फिर श्लेष को शाने किए ।  
 निज-वद गरहर मेम म प्रिनने वशी नरा मे कड़ा—  
 "मेरे वहाँ रहहर मजे! यों कर ज्यों गुनने सदा ।"

( ८ )

"जो ज्ञान हो जात मुझे वर हुंय-दर मारी क्या—  
 म तन मे करत सुदानी म गुलाग सधंया ।  
 नर दल मन्द वतभांग नर दल दुमा या यद हिया ।"



( १० )

“हैं धानकर, धनजान कर, जो हो गई यह घृष्टता—  
 श्रव भूल जावेगा उसे प्रभु-चित्त की उत्कृष्टता ।  
 देकर मुझे हृय-तस्व छ तुमने दित किया मेरा महा,  
 तुमसे उष्ट्रण हूँगा न मैं, यह हृदय मेरा कह रहा ।”

( ११ )

नका ने कहा—“हैं आप मुझसे वृद्ध वय में, ज्ञान में,  
 बल में, विभव में, बुद्धि में, हैं शौर्य में, सम्मान में ।  
 बिना सेवको की पालना में आप-सा ज्ञानी नहीं ;  
 जो अन्न-विद्या-दान दे ऐसा कहीं दानी नहीं ।

( १२ )

“मैंने न भोगा आपके सतस्व में कुछ कष्ट है ;  
 उसमें रहा हूँ मैं सुखी यह बात बिलकुल स्पष्ट है ।  
 भगवान से कर जाबकर मैं प्रार्थना करता अभी—  
 दें आप-सा स्वामी मुझे, जा मैं वनूँ सेवक कभी ।

( १३ )

“हैं क्षण से” आकर यहाँ पर कष्ट भोगा आपने ;  
 क्या-क्या दिखाए जेज हैं मेरे पुराने पाप ने ।  
 जो कुछ हुआ, सो हो गया, चिंता न इसकी कीजिए ;  
 सब दाप मेरा ही समझ मुझको जमा कर दानिए ।”

( १४ )

“सुनिए विनय मेरी,” कहा फिर भीम ने अति हर्ष से,  
 “मुझको हुए हैं ज्ञात अब तक ये दिवस नौ वर्ष-से ।  
 पर आज मेरे कष्ट को हैं नष्ट तुमने कर दिया—  
 संतुष्ट कर इस शोक-रूपी दुष्ट को भी हर लिया ।

( १५ )

"देखो निपथ-गजेंद्र ! घम फिर दुःख-वन छाए यहाँ ;  
 तुमसे विदा लेने अयोध्या-नाथ हैं आए यहाँ ।  
 घम पूरु पत्र भी ठहरने मन माँगता हुनका नहीं—  
 क्या धेञ्ज-नृप सहसा प्रजा का छोड़ सकता है कहीं ?

( १६ )

"दे भूप का आनन्द केवल नित्य जननाराधना ;  
 ईकीर्ति करवाती मश उसकी मश दिलसाधना ।  
 दे देश में मुझ शक्ति का ही नाम नृप की धीरता ;  
 दे विजय की नीजता ही धेञ्ज उसकी वारता ।

( १७ )

"तो नृप मुझ पाने सखें बरनी पना की छोड़ता,  
 परदे-या म केनार मर्षण उमम मोड़ता,  
 जो दान कीने नरप-नारी भाग उभरना काइता,  
 १३ सख उमडे मीला मे, त दुग पडे मन मोड़ता ।

( १८ )

( २० )

"चाहे हज़ारों दुःख हों, अपने नगर में छा रहे,  
चाहे डराने, युद्ध करने शत्रु भी हों आ रहे,  
पर छोड़ना अपनी प्रजा को भूप का दुष्कर्म है ;  
रहना परस्पर - प्रेम से राजा - प्रजा का धर्म है ।"

( २१ )

अपनी दशा को देखकर निज चित्त में चिंतित हुए—  
"कैसा रुचिर उपदेश है" नल ने कहा पीडित हुए ।  
"यों किंतु मैं कैसे कहूँ मेरे लिये यह काम का—  
हूँ क्योंकि मैं इस काल में नर-नाथ केवल नाम का ।"

( २२ )

"हे पूर्वजों का राज्य मैंने निज करों से खा दिया ;  
फल विषम पाने के लिये विष-वृक्ष का है बो दिया ।  
सुध आज आई है मुझे उपदेश सुनकर आपका ;  
भगवान जाने दंड मुझको मिल रहा किस पाप का ।"

( २३ )

"राजन् ! अतः सबसे प्रथम मुझको विदा अब दीजिए ;  
जिससे सभी का लाभ हो, श्वक काम ऐसा कीजिए ।  
देंगे मुझे रण में विजय, यह ईश का विश्वास है ;  
चाहे न कुछ भी पास हों, पर श्वास जब तक आस है ।"

( २४ )

"साकेतनायक ! आपको मैं किस तरह दूँगा विदा ;  
मैं प्रार्थना कर आपके पहले प्रभो ! लूँगा विदा ।  
हो कुछ कृपा कर और मेरे भाग्य को पूरा जगा ,  
मरुधर में छोड़ो न मुझको, पार दो पूरा जगा ।"

( २१ )

“प्यारी प्रजा के रक्त को है दुष्ट दुष्टर पी रहा,  
उदाग करता मैं नहीं, धिक् है मुझे मैं जी रहा।  
क्या हो गए मेरे मनी अब साथ हो पड़ता है;  
विन्द निराशा-सौख्य मुझको दीयने सर्वत्र है।”

( २६ )

नर-रक्त जो कित्त जान दोगो भूप प्रति धीरित हुए।  
रक्षमानधी उमरी गिरा ने और भी पीनित हुए।  
कहो जने—“राज” यों मत ध्या विता भूमिप,  
अब उमारी बाहिनी प्रति को परतव दीमिप।

( २७ )

“जो दुष्ट हमारे पास है, वह आपका ही भागिप,  
है गिरा माया का हमारे आप अपने भागिप।  
क्या फल है जो जो कर्मका, पर मुझ-वान प्रजान म—  
है आपका ही जो जो माता पावने मुन काम है।”

( ३० )

यह स्र मानकर दो-चार दिन वे वृष से ठहरे वहीं ;  
 सेलों शिकारों, दृश्य भी देखे उन्हींने सब कहों ।  
 फिर एक दिन शुभ काल में नृप ने विवा उनको किया ;  
 नल और भैमी साथ, सेना-धान्य-धन अतुलित दिया ।

( ३१ )

भरते हुए प्रमोद परस्पर अपने मन में,  
 करते हुए विनोद, मार्ग के गिरि में, वन में,  
 पहुँचे वे सब साथ एक दिन सरयू - तट पर—  
 जहाँ सदन था एक मदन-मन-मोहन, सुंदर ।

( ३२ )

कहते थे ऋतुपर्ण इसे निज मृगया - शाला—  
 जिसका जख प्रतिबिंब नीर में निपट-निराला—  
 होता था यह ज्ञात वरुण का शंभु - अचल - सम—  
 है यह चल-प्रासाद स्वच्छ शुचि-जल में अनुपम ।

( ३३ )

पवने लगे पड़ाव घाव से सयके इसमें—  
 स्थान, प्रकाश, समीर बहुत सौख्यद थे जिसमें ।  
 वमर्धती का चित्त देखकर स्थान मनोहर—  
 हुआ महान प्रसन्न, मिली ज्यों उसे धरोहर ।

( ३४ )

वसुधा पर जो शुद्ध सुधा - सम कहलाता है ;  
 मनु मुक्ति का दान मनुज जिससे पाता है ;  
 यज्ञ - याग - होमादि - कर्म में जो आता है ;  
 देवों को भी पान और जिसका भाता है ।

\* इस कथन या प्रार्थना को । † रोला छंद ।

( ३२ )

ऐसे बड़ की नदी क्यों न हो भला अनुत्तम ?  
 क्यों न चित्त का श्लेष हरेगी वह गंगा-सम ?  
 है त्रिमूर्ति फलोत्पन्न - बोल - माझाएँ सुंदर—  
 जिनमें शुचि - नकरंद टपकता है बड़ बनकर।

( ३३ )

धर्म, इतरथ, अभिराम - राम-मे, धति पावनतम—  
 इंदोवन राजपि दान कर जिसमें अनुपम—  
 कहते थे गिर चढ़ा, भक्ति से, त्रिमूर्ति शीकर—  
 "पद दुष्ट है जननि ! धारका पय दम पीकर।"

( ३७ )

जंजन - क्षमा +, निष्प पावनकर ज्ञान निर्मल—  
 पापी करते विचित्र धर्म को ये धरिचरज।  
 चढ़े त्रिमूर्ति मान, रत्नन दो मुनी बनाकर—  
 रामा जी मेइ इह धा रोग नियकर।

( ३८ )

( ४० )

सटिनी-तट पर दूर-दूर अति गहन गहन थे ;  
जिनमें करते भीम-जंतु भी रहन-सहन थे ।  
देते थे सुख जिन्हें पीन-पृथु कायावाले—  
पीपल-यट के वृक्ष सघन-घन-छायावाले ।

( ४१ )

पीवर छ पादप-पंक्ति नदी के युगल-तटों पर—  
छिटकाती थी छटा छवीली थो अति सुंदर—  
मानो सरयू-सखिल-सुरक्षा करने आकर—  
सज-धज करके खड़े हुए हैं सैनिक बलघर ।

( ४२ )

रजनीसुख † में वहाँ बहुत शोभा छाती थी,  
नदी वनों के मध्य इस तरह छवि पाती थी—  
मानो दोनो ओर गगन-गंगा के सुंदर—  
गगन-नीलिमा छिटक रही उड्ड-श्वेत-कुसुम-धर ।

( ४३ )

इस सरयू के पास एक था वनमय गिरिवर—  
जिसमें करते वास बहुत थे भीषण घनघर ।  
सिंह-कोल-शार्दूल-पूर्ण था यह सब कानन ;  
होते सबसे यहाँ किंतु, थे भीम-मृगादन ।

( ४४ )

ध्रम हरने को रहे वहाँ कुछ काल सदन में—  
दोनो राजा गए शीघ्र फिर मृगया-वन में ।  
हृष्ट-पुष्ट-संतुष्ट साथ थे जिनके हय-चर—  
बना रहे थे बात बात से जो बड़-बड़कर ।

\* पुष्ट, वेष्ट । † सायकाल में ।

( ४५ )

या खोदे का कच मद्द्युति हाकर मुदर—  
 पीले-पीले चिह्न हो रहे थे कुव उस पर ।  
 रह्यो है जो दुःख पदे पर धागे आकर—  
 यो ऐसी ही गाल पीठ पर उसके हदतर ।

( ४६ )

पाम-दण पर धनुष और था पीछे तर्क—  
 फरमा था जो शब्द दाल से मिलाकर कर्कश ।  
 यो उाडे कटि-गत नदिन करवाल ब्याज-पी ।  
 प्रियतम रहा था हृत्-शक्ति भी मडाहाय - सी ।

( ४७ )

कानो रदमाना पीरसग दुगल देर - पर—  
 मिला है, या ने भाग हा रहे थे वन मदर ।  
 मयरा ये ने दुःख गुण-व्यज भय-कर ।  
 या ने नय-धनुर्गो, साथ ने कष्ट-दण्ड पर ।

( ४८ )



( १० )

कहीं - कहीं पर युद्ध परस्पर हगि करते थे—  
 कर - कर गर्जन घोर शत्रु - शत्रु को लेते थे ।  
 क्वद रहे थे, फौद रहे थे रक्त - वदन - धर—  
 बदे - बदे हरि, कहीं - कहीं शाखा - मृग होकर ।

( ११ )

वाय - प्रवार अपार सहन कर कहीं - कहीं पर—  
 गरज - गरज गिर रहे सिद्ध थे कहीं - कहीं पर ।  
 कहीं - कहीं पर कुंत, कोल की कटि के अंदर—  
 जाकर वनता काल उभी का महा भयंकर ।

( १२ )

वन - महिषों के कहीं - कहीं पर सिर कटने थे ;  
 कहीं मृगादन - उदर बाण - गण से फटते थे ।  
 हरिण - विटाल - शृगाल भीति से पुच्छ दवाकर—  
 दौड़ रहे थे भीम - शब्द कर वन से बाहर ।

( १३ )

प्रलय - काल उत्पन्न हो गया वन के अंदर—  
 जिसमें स्वाहा शीघ्र हो गए अगणित वनचर ।  
 गृध्र और आतापि छ श्येन मे द्वेष छोड़कर—  
 रवा - शृगाल - वृक - सहित हो गए भक्ष्य - तत्पर ।

( १४ )

दुष्ट जंतु - गण - हीन दुष्टा जय भीषण फानन—  
 यह नितांत तब शात हो गया धानन - फानन ।  
 नीरवता में दूय, किंतु वह गहन गहनतर—  
 लगता था उस काल तपोवन - सदृश सौम्य - कर ।

\* आतापि चिञ्चौ, इत्यमर ।

( २१ )

ऐसी सुन्दर शक्ति वनों में बड़ा - बड़ाकर—  
 पड़ने के रूप याण धनुष पर चढ़ा - चढ़ाकर—  
 ध्य से, ध्व से नहीं, शिकारें रोला करते—  
 निरा जलता के फट वीरता से थे हस्ते ।

( २१ )

रथ, गुगया में तनिक दिग्गर्भ देता घंटर ;  
 इनमें तो मनभाव भरा है क्योंकि परस्पर ।  
 निद्रा पैरी के साथ युद्ध हाता है रथ में ;  
 गुगया म मनुमारि - प्राय हत होते वन में ।

( २२ )

धानी जागी प्रकृति नहीं हो रथ में जैसे—  
 हागा है पट्ट - वृत्ति - ज्ञान गुगया में जैसे ।  
 रथ में जो है ध्य - नय - पर धरि धनुशारी ।  
 है गुगया म कृ. रथ - नय - आयुष - भावी ।

( २३ )

( ६० )

बच्चों का-सा खेल शिकारें हुई आजकल,  
 धाता जिनमें काम नहीं कुछ शारीरिक बल।  
 महा भीरुता - सदृश हो गई भूप - वीरता;  
 काँप छ रही है देह, कहाँ फिर चित्त-धीरता।

( ६१ )

वीनजनों का कष्ट काटना, स्वबल बढ़ाना,  
 अनुचर-गाथ को सदा धर्हिंसा-पाठ पढ़ाना,  
 जहाँ मनुज हैं, वहाँ विघ्नता वन की हरना,  
 है राजा का धर्म इस तरह सृगया करना।

( ६२ )

राज-काज को छोड़ तमाशे करते रहना,  
 तीतर, चिड़िया मार शिकारी निज को कहना।  
 देना पर को कष्ट उड़ाने केवल जलचर—  
 घर में छिपकर और मारना छोटे थलचर।

( ६३ )

है यह सृगया नहीं, किंतु है हत्या करना—  
 निज नौका को और महा पापों से भरना।  
 प्रतिदिन ऐसा खेल खेलना क्या विनोद है ?  
 क्या निर्धन जन-दुःख-दान ही भूप-मोद है ?

( ६४ )

कभी सिंह के नहीं सामने ये † आते हैं—  
 फहकाते हैं सिंह और फिर छिप जाते हैं।  
 हैं जो सच्चे वीर और जो बड़े शिकारी—  
 उनको अपनी देह नहीं होती है प्यारी।

\* आर्यभक्त नद और व्याभिचार मे । † राजा जोग ।

( ६५ )

निज रथा के लिये गेड़ ॐ भी पास खड़े हैं ;  
 शर्मा, घोड़े और शय-धर दास खड़े हैं ।  
 फिर भी ऊँचे पैठ वृह से गोजी देना—  
 कभी चूकना और कभी पशु क अनु लेना ।

( ६६ )

भवा है यद्वा चिन्तार पीरता-स्मारक सुंदर—  
 जिनका भी तैयार दिनों में करने पुन-नर ।  
 हरि-मान म जहाँ समाने है सीने पर—  
 धारों के चिन्तार यद्वा ऐसे जाने पर ।

( ६७ )

भी कदमों सिद्ध, है न दुम कभी जयाने ,  
 यही जो भा करे जग के समुदा गाते ।  
 भी न दाना पुन देर म शय म तए—  
 भी चिन्तार नदी, चिन्तार-साग बनाए ।

( ६८ )

स्फटिक-शिला पर बैठ गए फिर युगल - भूप - वर—

हरी वरी छ पर और जम गए सारे अनुचर ।

( ७० )

शरद-काल का मध्य इस समय था अति सुंदर ;

थे गिरि पर से शब्द कम रहे करने कर-कर ।

हरियाली ही, सभी जगह पर हरियाली थी ;

कहीं - कहीं पर पुष्प - राशि भी खिली हुई थी ।

( ७१ )

आता था वर - वायु सरोवर के ऊपर से—

और भूमि की गंध, सुमन - सौरभ गिरि - वर से ।

या वसुधा पर सुधा छिड़कने लगा सुधाधर—

सकल कला - परिपूर्ण क्योंकि था कलित - कलाधर ।

( ७२ )

चार चौदनी और रात आपस में मिलकर—

अपने पति की बात लगी करने खिल - खिलकर ।

इसी समय ऋतुपर्य - गुणी - गायऊ - गण थाया—

जिसने फिर संगीत मधुर छेडा मनभाया ।

( ७३ )

आए फिर धीमान, मानवाले कुछ अनुचर—

सुरापात्र ये कई हाथ में जिनके सुंदर ।

ये सुवर्ण के और रजत के भी लघु भाजन—

जिनका देख सुवर्ण मुदित होता था जन-मन ।

( ७४ )

स्वर्ण - रंग की, महा सुगंधित थी जो रुचि-उर—

ये जिसके आधार अभी तक ताम्र - पात्र - वर ।

यो ध्रुवोऽयं गंभीरं गर्तं मे गदा हुई यो ।  
मय धनुषो मे इमो तरङ्गो वां पत्नी हुई यो—

( ७१ )

घौर निम्नरुधर गुरुत हो गई यो वा निर्मल,  
नद - नद, नद - भरो, पुष्टि - कर, गुचकर, शोतक,  
धूमो पीने उगे वादकी रूप पुरानी—  
मोद - सुदिनी, जो न उद्दि को करे दिजानो ।

( ७२ )

पपनिधि - जाता नुरा प्यथं यो शिगके सन्मुत्त—  
नुरा नुरा विनये घदा, नुराकर स्पौठि धनुष-मुत्त ।  
दिगु नय नद इयं - उद्दि उनको करता यो—  
वि.पी उद्दि नद प्पाधि ल-को हरती यो ।

( ७३ )

प्राय - उद्दि के पात्र - नय न नदिश उत्तम—  
वि.पी यो इयं उद्दि यो वां दित धनुष—  
नयो उनके उत्तम - मय वा मुत्त - नरोत्तर,  
प्राय यो नद - नय नद नरोत्तर के द्दर ।

( ७४ )

या मादकता और पुरातनता दिखलाने—  
ये वे सभी प्रमाण सुरा को श्रेष्ठ बताने ।

( ८० )

मिष अपने प्रतिविम्ब-मात्र का लेकर हिमकर—  
महामोद से पान - पात्र के आकर अंदर—  
सहोदरा से झूब बाँह भर-भर मिलता था—  
शिर - वियोग का अंत देख मन में खिलता था ।

( ८१ )

अथवा आज विलोक हुआ फिर से सुंदर - तर—  
और अतीव प्रसन्न, कमल से भी कोमल - तर—  
वदन महा चुत्तिमान, मदन - मद - हारी नल का—  
था आश्रय ले रहा चंद्र सुलू - भर जल का ।

( ८२ )

अथवा कादंबरी छ बहन यह मेरी उत्तम—  
हो जावेगी और बहुत ही रुचिकर - अनुपम—  
ऐसा मन में मान, पात्र में डूब सुधाकर—  
देता था असृतस्व, मधुरता उसको थाकर ।

( ८३ )

ऐसी मधु को सभी लगे पीने बढ़ - बढ़कर—  
शिर चढ़ती थी जो न कभी भी शिर में चढ़कर ।  
जिसके मद से वीर भीर भी हो जाता था ;  
महा कृपण भी दान - शीलता को पाता था ।

( ८४ )

ऐसा मद भी तुरा अंत में क्यों कहल्लावा ?  
क्यों अपयश का तिलक शीश पर है यह पाता ?

● मदिरा, अच्छी शराब ।

इसका उत्तर यही मधुप - गण दे सकता है—

“नादाना उ में कौन यदाई लें सकता है ?”

( ८८ )

द्वि भी पढ़ना यही ठीक दिखलाई देता—

हैं, मद से ही मनुज मदा नादानों लेता।

बोभ - मोठ से अधिक पुग मद ही हाता है—

आग + श्रांति म्योकि पुदप भी यद श्योता है।

( ८९ )

आई जैमा ज्यों न नरा भी, यद काना है—

न हा अग गीग गुदि का भा इगता है,

द्वि नरों न बदल करेगा यद उस नम का—

विपद मिर यद चड़े नरा वन ईत - रमण का।

( ९० )

मनी नरद न पुरी वस्तु ऐसी न करी पा—

इसमें मद भी नही मज्या है कृपाति - अ।

है जो नरद पुग, धारण - हीन ह्याइउ—

श्री नारा है द्वि कनी नद भी पगानउ।



भोजन पीछे हुआ वदन - कर - पद - प्रधावन ;  
फिर सारे बल दिए 'मदन' को सखित मुदित-मन ।

( १० )

सवने देखा दृश्य और ही पहुँच वहाँ पर—  
थी भैमी ऋतुपर्णा - प्रिया के साथ जहाँ पर ।  
करती थीं वे वड़े प्रेम से मिलकर भोजन ;  
फरके रुचि - अनुसार परस्पर उसका वर्णन ।

( ११ )

रत्ननी में विश्राम लिया फिर सत्रने सुलकर ;  
ठठ फिर प्रातःकाल हुए नियमों में तत्पर ।  
नल ने फिर ऋतुपर्णा - दूत - वर को बुलवाया ;  
नम्र भाव से, जो कि वहाँ अति सस्वर आया ।

( १२ )

"आप निपथ में थकी जाइए चतुर दूत-वर !  
जहाँ कर रहा राज आज है राजा पुष्कर ।  
उसको सबसे प्रथम हमारी आशिष कहना ;  
ऐ करके यह पत्र आप फिर मौनी रहना ।

( १३ )

"जो उत्तर दे तुम्हें पत्र जो पढ़कर पुष्कर—  
उसको आकर मुझे विदित तुम करना सस्वर ।  
मेरा जो परिपूर्ण मनोरथ दो जावेगा—  
तो तुम-सा फिर वित्तवान विरला पावेगा ।"

( १४ )

सुनकर यह आदेश दूत वह शीघ्र नवाकर—  
लेकर सब सामान भरद-वर पर फिर चढ़कर—

पदा निषध जो घोर शीघ्रता करके ऐसी—  
तेज्र हवा में करे घृष्ट का पचा पैली।

( ६२ )

कई दिनों तक सुखद वासकर नल सरयू पर—  
वाहर के सज दरय देखकर महा मनोहर—  
गए पुरी में साथ भूप के सहित मुदित-मन—  
ये प्रिसने आराम-सदन सुखदायक, शोभन।

( ६३ )

देवत-शत्रु ने, मागं में उम नृत ने न्या-न्या क्रिया ।  
गुन विधु-वर्षंग पयिह को निज भेद न्यों उसने दिया ।  
इसकी कथा न विपुत्रा वर्षंग दे क्रिया धागे गया—  
परिद बसे भी आप इन अजपक्ष पर करके दया ।



( ६ )

धानु-विभानु-कृगानु दीन-रत्ना करते थे—  
 ये जोंगों की महा दुःख बनका करते थे ।  
 वेद - वृत्त - तानूच - वादपी - मरुपी ये सब—  
 मिश्र रहे ये शीत-दृष्ट धनियों का भी वष ।

( ७ )

पद्मता था रवा वन, पादुगों पर यह पावा—  
 या नर - यश ने हूँदें शीत धेसा कर गाया ।  
 या श्वातु का तेज, भानु तः शीत दृष्टतर—  
 शीत होकर इस प्रकार कैज था भू पर ।

( ८ )

पदा ये श्यामल वन पर गति पदा ;  
 माना ने प्रजापत रा रहे धूमै हाने ।  
 करते हैं इतक मदा इन राने मिर्चत ;  
 पात रहे ये शीत दृष्टि मरुत ये श्रेय ।

( ९ )

( १० )

जिसका बदन, सरोज देखकर दूबे जल में—  
 और विलोक उराज घटी शोभा श्रीफल में—  
 इदप-हारिणी साय सुदरी निनके ऐसी—  
 दीन-दुखद हेमंत-भ्यया फिर उनको कैसी ?

( ११ )

मृगमद, गुण - कर मद्य, मांस, मन्मोहिनि-नारी,  
 ऊनी पट पय उष्ण, विभव - सामग्री सारी,  
 धातप, अग्नि प्रचंड और हो तन में अति बल—  
 दश पदार्थ ये शीत-कष्ट का हरते पल-पल ।

( १२ )

इस परिश्रमशील जन - सुख - शक्तिदा—  
 श्रेष्ठ ऋतु में हर्ष से वह दूत - वर—  
 पात्रियों के साथ में था जा रहा—  
 बहुत - से वृत्तात सुनता सौख्यकर ।

( १३ )

एक नर से पूछने वह यों लगा—  
 जानकर भी यात सय, अनजान बन—  
 “आप आप हैं कहाँ से और अब—  
 आ रहे हैं किधर को हे श्रेष्ठ जन ?”

( १४ )

प्रश्न सुन, उत्तर दिया उसने यही—  
 “मैं बहुत ही दूर से हूँ आ रहा ।  
 सिंधु - यात्रा से अभी-अब लौटकर—  
 शीघ्रता से निपट में हूँ आ रहा ।”

\* नारियल । † छंद चौपदा ।

( १२ )

"मैं बहुत वृथा - फिर मसर में—  
 देवने देशांतर की धंपवा,  
 शिनु होती श्रात वह कोकी मुग्धे—  
 सिंधु - महिमा - कीर्ति - छवि - सम्मुख रहा।

( ११ )

"क्या करूँ उमकी प्रशंसा मैं मन्ना—  
 हे थनाला शाल पारावार का।  
 पृथिव मन धार उमकी यात कुतू—  
 यो बनक = कदला रहा मसर का।

( १० )

"शिरु हा जो मन्त्र शयनागार है,  
 खादि है भाषार जो गठ-नाथ का।  
 धार पाकर पुण्य वांगार भी—  
 गण गना है न शिमडे मथ का।

विष्णु को भी श्री-वधू मिलती नहीं—  
 धूम्रि उवती और धनदागार में ।

( १० )

“अभरता आती न देवों में कभी ।  
 कौन हरता रोगियों के रोग को ?  
 दिव्य गो के दुग्ध के सेवन विना—  
 कौन करवा योगियों के योग को ?

( २१ )

“ईंद्र † की रहती सदा सूनी सभा,  
 दिव्य इस्ती, हय उसे मिलते नहीं ।  
 बैठ तरु नीचे असुर, सुर और नर—  
 सिद्ध कर लेते मनोरथ क्या कहाँ ?

( २२ )

“मंजु मणि मिलती न माधव को कभी—  
 और धनु मिलता न ऐसा श्रेष्ठतर ।  
 फूँफे क्या ‡ कौरवों के सामने—  
 कृष्ण सुख से बैठ धनुन - धान पर ?

( २३ )

“चंद्र भी होता, न होती चन्द्रिका ;  
 कुमुद भी सर में कभी खिलते नहीं ।  
 औषधे पीतों कहाँ पीयूष को ?  
 तम न होता दूर रजनी में कहाँ ।

\* पर्वतारि भगवान् । † रेभास्वरा के विना । ‡ पाञ्चन्य यंत्र ।

( २४ )

"ईश को सिद्धता न ऐसी ईशता—  
 जो न करता प्रकट यह ऐसा गरल ।  
 नीलगल † को दुःख देता नाग - विप—  
 जो न होता नीलगल † -सम नील-गल ।

( २५ )

"यास्या सिद्धता न असुरों को कभी—  
 मत्त यत्त वे नष्ट हों क्या कही ।  
 और हो कुछ रष्टि में थाता मत्ता—  
 विधु जो इस सृष्टि में होता नहीं ।

( २६ )

"अधमर गद्य न भी मरग्य उप दो भधा—  
 अधमर गद्य जो भी मरग्य उप दो भधा ।  
 विष्णु गारुड-नाथ जो भी तार यह—  
 दे भगव - आरध - अरध - नारध - मरध ।

( २७ )



प्राणियों की वृद्धि करने के लिये—  
होप-गण्य भी वास इस पर कर रहा ।

( २६ )

“शैल हैं मैनाक - से इसमें छिपे—  
और शैलाकार, भीषण जीव भी ।  
सिंधु की गंभीरता का देव भी—  
पा नहीं सकते पते को हैं कभी ।

( ३० )

“कोटिशः ब्रह्मांड हैं जो धन विना—  
भृकुटि - चालन - मात्र से देते बना—  
वीर ऐसे राम ने की मान - हित—  
सेतु - पंथन - हेतु इसकी प्रायनाछ ।

( ३१ )

“देश - देशांतर - मिलन करता यही—  
सृष्टि के व्यापार का आधार बन ।  
सिंधु यह मानो सरिस्वति - रूप में—  
जीव - जन - उपकार है साकार बन ।

( ३२ )

“आपगाओं का, सरों का और फिर,  
पान करके यह सभी जल - भार को—  
एक पल के भी लिये, तिल - मात्र भी—  
छोड़ता है यह न थपनी फार को ।

---

■ इसको सम्मान देने के लिये धाराम ने भी सेतु-पथन-हेतु इसको  
दिनच को भी ।

( ३३ )

"बपुज होकर भी सदा यह सुटा है—  
 श्रेष्ठ मर्यादा - पुरुष - सम धर्म में ।  
 दुःखतम - क्लृप्तोत्तम - माता - गेह पन—  
 यह कभी थकता नहीं निम्न कर्म में ।

( ३४ )

"प्राणियों में धीरे सब सामान से—  
 पूर्ण चलते पोत + हैं इस सिधु पर ।  
 धीरे यह निस्स्वार्थ दो रदता बना—  
 नीर - नम्रिन मानवों को मुक्त कर ।

( ३५ )

"न्यो यहाँ जाया, कहीं यह जा रहा—  
 भेद इसका जानता कोई नहीं ।  
 प्राण में संसार - सिधु - चरतया—  
 जीव में जानो गहं है क्या कहीं ।

( ३६ )

"निधु का प्रति कलि या शोनी न तो—  
 ( १ न पकड़े थे स्थिति शक्ति को ।  
 और उमड़े का मकं, तो कर रहा—  
 निर - न्युक्त मोलियों का शक्ति का ।

( ३७ )

( ३८ )

"हे सखे ! अति अजुमवी - विद्वान - सम—  
सिंधु का है आपने वर्णन किया—  
सुन जिसे, है शांत, शीतल, तृप्त अति—  
और हर्षित हो गया मेरा दिया ।

( ३९ )

"आप - जैसे, सज्जनों के साथ में—  
कौन जन उल्लत महा होगा नहीं ?  
स्पर्श करके शुद्ध - पारस को भला—  
जोड़ क्या फिर जोड़ रहता है कहीं ?

( ४० )

"हे महा महिमा सदा सस्वंग की—  
जो सुमति दे जीव को, जंजाळ हर ।  
क्षोप-निधि भी चंद्र खोता दोष को—  
बैठ करके चंद्रशेखर - भाल पर ।

( ४१ )

"कांत - कमलानाथ के संसर्ग से—  
जन्म देता कमल - जन्मा को कमल ।  
है दिवाकर - कर - निकर को स्पर्शकर—  
गगन-गामी बन गया यह समल ॐ जल ।

( ४२ )

"भ्राह्मकर बल-शक्ति को निज देह में—  
देहधारी है न डरता वाम से ।  
ब्याध होकर बन गए बाल्मीकि अपि—  
राम के सुख - धाम - नाम जलाम से ।

● मल-युक्त जल भी वाष्प होकर मीठा और साफ़ हो जाता है ।

( ४३ )

"दुष्ट के ससर्ग से इस ही तरह—  
 नीच हो गला जगत में मनुज-वर ।  
 मनुवम नशि भी भुजगम - संग से—  
 भव्य दोहर हों गई है भीति - कर ।

( ४४ )

"जादुया - जब भी बनेगा वादयी—  
 वादयीजीवी उ मनुज के हाथ में ।  
 मघ नी हो जायगा गंगा - सखिल—  
 देहाती विप्र - वर के साथ में ।

( ४५ )

"इसजिमे मविमान का है सर्वज्ञ—  
 मन्त्रों के भाष रक्षना चादिप ।  
 भीम साई - साक - सुपरे नाम ही—  
 प्रायग १ ४ मीर यदना चादिप ।

( ४६ )

( ३८ )

“भानवों का खेम करने के लिये—  
क्या प्रजा को पाजते हैं वे सदा ?  
या कि धी के नित्य ये दीप् जला—  
लूटते हैं निर्बलों की संपदा ।

( ३९ )

“या किसी दुर्व्यसन में पड़कर कष्टो—  
कर रहे हैं कार्य की धवहेलना—  
मग्न वे ध्यानंद में रहते स्वर्थ—  
पर प्रजा को दुःख पदरा केजना ।

( ४० )

“कौन-सी है घात ऐसी जिस तरफ़—  
वे लगाए नित्य रहते स्नेह को ।  
आप अब प्रारंभ कहना कीजिए—  
दीजिए सब भेद इस संदेह को ।”

( ४१ )

दूत की प्रश्नावली को झूब सुन—  
शोक-सर में बह बणिक बहने लगा ।  
या निपथ का ही निवासी इसलिये—  
बड़ धते की बात यों कहने लगा—

( ४२ )

“हे सखे ! हे निपथ का धनुत दशा—  
क्यों लुलाते आप इसके भेद को ?  
को बना देगी अभी चितित तुम्हें—  
चित्त में तपन्न करके खेद को ।

( १३ )

“क्योंकि सज्जन-मु-मनउ - रूरी सुमन है—  
 नवंदा नयनीत से मो नृदुल - तर—  
 एउ हा अनुभव करेगा शीघ्र ही—  
 दूसरो हे दुःख को वउ जानकर।

( १४ )

“आमन्त्र 'पुष्कर' निरपे का मूर है—  
 ल्य है बनन भयानक तो रहा—  
 यो रहा है जो प्रम-यनुराग को—  
 प्राण को है शक को जो वो रहा।

( १५ )

धारा मो विरगमवातो है हार्य—  
 मानसा वर और मानव - नाम को।  
 काम ज्ञान है नहीं वर देगकर—  
 रोज जा, या चर को, या पाठ को।

/ १५ १

कर ॐ लगाकर, लूटकर कर - युग से—  
 वृत्ति उसके है न फिर भी विच में ।

( १८ )

“दुःख देता है प्रजा का व्यर्थ यह—  
 वृंढ - दित धन नित्य मिथ्या वृंढधर † ।  
 वंढ उसके हो रहे भुज - वंढ हैं—  
 वृद्धियों के वंढ को भी वंढधर ।

( १९ )

“ध्यान से सुनता नहीं है यह कभी—  
 वेदपाठी विप्र के भी पचन - वर ।  
 मानता है यह स्वमत का ध्येयतन—  
 और निज को जानता मयंछ नर ।

( २० )

“मित्र उसके हो रहे हैं सुर्यमन,  
 जन गया वह जगुर्षो का भेद है ।  
 पाप - स्त्री वह के प्रति पूंज से—  
 पूष्ट मन, अपवित्र उमकी देह है ।

( २१ )

“वष्ट करता जो सभी राजा ही—  
 देह की, मस्तिष्क की है शक्ति कर.  
 खोड या परखोड के पच - देह जो—  
 मेरुत है शक को, शरि - मस्तिष्क को ।

( ६२ )

"पुदि के दड़ मूल का उन्मूल कर—  
 कुनति का है पाठ का वेता पना—  
 दुष्ट, ऐसे मनुज - वेता मघ को—  
 यह निजोदर - दुगो न रखाता पना ।

( ६३ )

"दो रका इसका यका परिणाम है—  
 मताजन उन्ममे नदी सतुष्ट है ।  
 बन रहे उसके जगा ६ पात्र अथ—  
 आद्वारा - नीर - दुर्भुता - दुष्ट है ।

( ६४ )

"निर्भरे का अथ पाते को नदी—  
 है पाते मय उन्मे धरवान नर ।  
 नाति का, पचास ४ ना नान भी—  
 रिपु मे निजता नदी मय मिश्रण ।

( ६५ )



( ६७ )

दूत फिर कहने लगा—“हे मित्र-वर !  
कुछ दिनों में मैं निपथ में पहुँचकर—  
बात सारी विदित कर दूँगा तुम्हें—  
जो बनेगी निपथ की धापति-हर ।”

( ६८ )

इस तरह बातें परस्पर नित्य कर—  
हो गए सबे सखा वे प्रेम से—  
और फिर हेमंत के वे दंत में—  
निपथ में पहुँचे समुद्र अति प्रेम से ।

( ६९ )

पुष्कर से मिल, दूत किस तरह वापस आया ;  
सुन जिसका संदेश हुई हर्षित नल-जाया ।  
नैपथ को फिर मिली राज्य-लक्ष्मी थी वैसे—  
पयनिधि से श्री प्राप्त हुई थी हरि को जैसे ।  
इत्यादिक वर्णन कई गए भला आगे किए ;  
एक बार नल-विभव को पाठक ! फिर से देखिए ।



## अठारहवाँ सर्ग

( १ )

शीत-प्रनयन के शायों में जन-मद का फर-कर भजन—  
शीतल शिगिर उत्रकर पाला करता था निज मन-रजन ।  
हूँ मैं ही हेमंत-पुत्र वह यही वात वर्माता या ;  
भू पर राज्य बसाने शोत्रे गोत्रे-से परांता या ।

( २ )

कानि रानी थी पर-पर, पर-पर दीन जनों की दुःखित देह ;  
हँसता थी हंसतियों उन पर, धनी जनों का पाकर स्नेह ।  
अपिच जोड़ पूर्व उत्तर को धरे धीरे थाता था ;  
पूर्व-तेज ७ उड़ जाने में दिन भी बढ़ना जाता था ।

( ३ )

देवा चंद्र न हूँ नगर की देव पुरंधरा दुष्मा दुःशो ;  
वसोकि चंद्र के भाग्य पुर मैं पुष्टन पुरुषो था न सुशो ।  
कदा मुना जता थी ३ मे दून जता न रोम पुष्कर ;  
कदा काल के दिने चंद्र मे मीनिक ना प्रेक्ष प्रथिवार ।

( ४ )

( ५ )

राम-रामकर किसी तरह वे पहुँचे नृप-मंदिर के पास—  
जिसमें अति सुख से करते थे, नल-दमयंती कभी निवास ।  
जगी बहुत ही भली दूत को उसकी अद्भुत सुंदरता—  
जिसे देख वह विकृत-रूप में था मन में चिंता करता ।

( ६ )

होता था यह ज्ञात उसे अब कहता है यों राजागार—  
“करता हूँ हे दूत ! आपका मैं अभिनदन वारंवार,  
क्योंकि आप लेकर आए हैं मेरे उन स्वामी का पत्र—  
जिनके कारण से रहते थे मुझमें सारे सुख एकत्र ।

( ७ )

“रहा रहा है मुझे इस समय उनका महा असह्य वियोग ;  
भोग रहे हैं शोक-रोग को जिनके विना निपद्य के लोग ।  
धन्यवाद के साथ आपका करता हूँ स्वागत मैं मित्र !  
जाकर उनको कष्ट मिटाओ, और बनाओ मुझे पवित्र ।”

( ८ )

तूर्पक्ष-शब्द यों लगता उसमें मधुर-मधुर, सुखकार अपार—  
मानो वह प्रासाद दूत को बार-बार था रहा पुकार ।  
देख पताका-कंपन उस पर यही समझ में धाता था—  
ध्वजा हिलाने के सिप से वह मानो उसे बुलाता था ।

( ९ )

होता था प्रतीत यह, उसका देख यही छाया भू पर—  
मानो मिलना चाह रहा था उससे वह आगे बढ़कर ।  
कभी-कभी ऐसी चेतनता लड़ में भी आ जाती है ;  
लड़ से अधिक, कभी चेतन में लड़ता भी छा जाती है ।

( १० )

उपके सम्पुन मद्वा मनोरम और सुगंधित या धाराम—  
 तद-द्वज-शाखा-चावन-मिष से करता या जो उसे प्रयाम—  
 घोर धिया जात या तमसे नज-शरीर का द्यशं कलाम—  
 यवोकि पाम में या धावन के नज कर-लितित-यत्र सुप्रथाम ।

( ११ )

भू-उर-नेत्र-शायु-नम में भी कुङ्कु-कुङ्कु होने खगा विहार,  
 यगद्विषय सुहा या यत्र उर पर नल-कर-कनक-गंध का भाउ।  
 यथा पाये जैसे मयमें धा जाता है मुद-उत्साह—  
 उमो ताह से उर-धेतव में पुत्रा दष्टि-गत यदा उजाह ।

( १२ )

सवजय तन्वेष देतल, उम हो नम में धायन जान—  
 उमो पूने उममे ऐसे शारपाव धाकर धोमान—  
 "शरी नराउप ! शर। धातय जात जैसे पुत्रा यदा ?  
 दितय नान भातको है, यत्र और जा रहे धात यदा ?

( १३ )

"वात शक्ति यदा शर। को, यदा शक्ति गुण म जात ?  
 धातय न नर नान धातय धरने दूर परिधन-जात ।  
 जो नरेश देता को नर म नर। को गुण धमि जात—  
 शरीर दूर पुत्रात दूता, द दन-जा ऐसा धात ।"

( १४ )

क्योंकि द्वारपालों में पटुता और नम्रता का आभास—  
हो सकता था कभी न इतना विना रहे नैपथ के पास ।

( १२ )

कहा दूत ने—“महोदयो ! मैं बहुत दूर से आया हूँ ;  
राजा को अर्पण करने को एक पत्र मैं लाया हूँ—  
जिसके लिखनेवाले हैं वे, ये जो निपथ-नृपाल कभी—  
करते हैं ऋतुपर्ण-संग जो पुरी अयोध्या-वास अभी ।

( १३ )

“महासती दमयंती भी है सुत-कन्या के साथ वहाँ—  
पुरीछ-महारानी करती है सुखद सभ में वास जहाँ ।  
श्रीनन्द ने भेजा है मुझको कहने को अपना सदेश—  
इससे अब तुम जाकर कर दो विदित भूप को क्या अशेष ।”

( १७ )

सुनकर मीठी बायी उसकी लगे मुदित बन वे ऐसे—  
भायों के फिर से आने पर मृत शरीर होता जैसे ।  
सूखे हुए मंजु मानस में जैसे हुआ सलिल-संचार—  
वैसे ही वे समाचार सुन सभी हो गए मोदाधार ।

( १८ )

जैसे दुःख-निशा में छाई निशानाथ की कांति अपार ;  
दशा-बीच वैसे ही उनके फैल गई थी शांति अपार ।  
उनकी गद्गद गिरा हो गई, पुलकित सारा हुआ शरीर ;  
मन अधीर, बेपीर हो गया नयनों में भर आया वीर ।

( १९ )

सुध-शुध सारी भूल उन्होंने किया दूत से आर्जिगन ;  
उसके स्कंध-युग्म को सींचा ढाल जोचनों से जल-कण ।

\* अयोध्या ।

धीर कथा—“दे माई ! तुमने हमें यदुत ही सुती दिया ,  
भन्व्याद दे रक्षा हमारा तुम्हें दिया का ध्यान दिया।”

( २० )

ऐसा कदम पद पुरुष फिर गया भूप के शीघ्र समीप—  
धीर नम्रता से कर जोड़े, कहने लगा उमे—“तुज-दीप !  
वृत्त अयोध्या से आया है पढ़ने हुए राजसी वेप—  
ई प्रभु-र्यान का यह हस्तुक, दे उमके दित क्या आदेश ?”

( २१ )

“अच्छा, उसको छाने दो” यह उत्तर सुनकर मन भावा—  
हामराय यह पाकर आकर उसे भयन में ले आया ।  
देख तुल ने सम्मुख नृप को शीघ्र नवाकर किया प्रणाम—  
धीर दे दिया नम्र नार में फिर उसको यह पत्र खजान ।

( २२ )

कई बार यह कर उमको दिया यथा उमने आदेश—  
“धरतरोहा पुत्रों द्वारा भयो भायें अभी छोड़ोप ।”  
राम-हृदी, नतीकन पत्र, पदा हो गए अब पदम—  
नती गभा में हुए प्रकार तब पता गया उमसे वह पत्र —

( २३ )

“अधिका तुम्हें ! तुम्हें हमारा समाचार दे पाकर ।  
पदाई इत्यन्तों के दे, छोड़े पदाई अतुम्हें अतुम्हें ।  
दिया कदु-वच, इत्यन्तों का नृप दर-जो है तब का मत्र—  
इत्यन्तों के दे, कदा दे कदा-मन्त्र नृप-मन्त्र ।

( २४ )

“इसी तरह तूने भी पुष्कर ! करके छल से राज्य-विहीन—  
मुझे दिया है देश-निकाश और किया है मुझको दीन ।  
देख दिनों का फेर, भला मैं नहीं कर सका या कुछ बात—  
पर अब क्योंकर बनी रहेगी सदा-सर्वदा आधी रात ।

( २५ )

“जिस दिनकर का उदय हुआ है, होता उसका अस्त अवश्य—  
महा प्रतापी भी बन होगा वह कबंध † से अस्त अवश्य ।  
भाग्य-प्रभात कभी होता है, और कभी है सायंकाल ;  
वही सुखी कल हो जावेगा, धाज हो रहा जो चेहाल ।

( २६ )

“इन बातों को सोच-समझकर, छोड़-छाड़ तू सुख का साज—  
राज्ञी से या नाराज्ञी से दे-दे मुझको मेरा राज ।  
जिस पर कभी न हो सकता है न्याय-वद्व तेरा अधिकार ;  
धर्म-शास्त्र-आदेश ठीक यह ‡ वीसो विसवा सत्याधार ।

( २७ )

“बील-वचन मत इन्हें मानना और न याचक की-सी बात ;  
वीरोचित यह कार्य समझकर दूत भेजता हूँ मैं तात !  
बातों से वह नहीं मानता, जो होता बातों का भूत ;  
कभी नहीं तू पेसा होगा उसी पिता का होकर पूत ?

( २८ )

“सदा किसी की बनी न रहती, इसको भी तू रखना याद ;  
राजों का पथिकालय है यह कहते जिसे राज्य-प्रासाद ।

\* विंदी में राज्य और राज दोनों ही प्रयुक्त होते हैं । † राहु । ‡ सबसे  
बेड़ा पुत्र ही राज्याधिकारी है ।

दे भाड़े ! कब तक तरेगी सागर में कायाज की नाव ?  
 दे संसार-विपत्ति में रहता सदा पुरु-सा किसका भाव ?

( २४ )

"सोच-विचार फान कर तू थर, बिना विचारे जो काता—  
 उसकी हँसी अगत में उड़ती, निवित होकर यह नरता ।  
 धो राजी में राज न देगा, तो तुम्हको होगा शक्ति फट ;  
 पत्र हर उसे क्योंकि मैं लूँगा फरके तुम्हको पत्र में नष्ट ।

( ३० )

"दो तो गूरा है तुम्हको समा-मनाहर छल के साज ;  
 लोभ-दूध ने पर धायेगा मेरे कर में मेरा राज ।  
 दूत चेजना जो तू चाड़े, तो उमरा भी है यादान ;  
 पाव न म न म । पधा तू हँसी भोग मल इसको मान ।

( ३१ )

"मेरा दोरा भट्टे होकर विदनाय तू काता करवे—  
 हा ! विना । समाय हो गया ऐसा उतम कृप भी साथै ।  
 हल-मेरा राज मुझे तू विना उड़े ही देदे भाव—  
 और तूने किना भद, तुम्हको भरा देगा मनुज मनाय ।

( ३२ )

"वे कि ज का रान न गूवा, व न नही मदी भयान ;  
 राना करेक मर्ष दे, तू भी नही लयेवा है धन-दान ।  
 देहना हो एक, मुझे कर देत मनावा दण नदी ।  
 फेला दो मर दे, हीमी नदी करेका निर-करी ।



अपनी करणी पार उतरणी, किसका धन, किसकी दारा ?

ठाठ पढ़ा रह जायेगा, जय जाद चलेगा बनजारा ।

( ३४ )

“छोड़ूँगा मैं नहीं राज्य को किसी तरह से भी हे तात !

उत्तर दे तू सोच-समझकर ऊँची-नीची सारी बात ।

यहाँ समाप्त इसे करता हूँ, ठीक नहीं है अधिक बखानल ;

तुझे सुयश दें, वढ़ी आयु दें और सुमति दें श्रीभगवान ।”

( ३५ )

पढ़कर ऐसे श्रेष्ठ पत्र को जगा दूत से कहने बह—

“हे मतिमान ! हाल तू नल का पूरा-पूरा मुकले कह ।

कहाँ रहे वे इतने दिन तक, भोगे उनने क्या-क्या कष्ट ;

है दमयंती कहाँ, दूत ! तू समाचार कह सारे स्पष्ट ?”

( ३६ )

हाय जोड़कर नम्र भाव से उसने वर्णन किए अनेक ;

नल पर जो-जो बीती थीं वे बातें कहीं एक-की-एक ।

सुनी आदि से और अंत तक बड़े प्रेम से देकर ध्यान—

जिन-जिन मनुजों ने वह पावन नल-दमयंती-कथा महान—

( ३७ )

उनका मन मल-हीन हो गया और हाल सध पलट गया ;

ज्ञात हुआ यों उनको मानो हमें मिला है जन्म नया ।

निपथराज पुष्कर पर से भी द्वापर-कलि का हटा प्रभाव ;

सबका वेड़ा पार हो गया, जगी किनारे दूटी नाव ।

( ३८ )

अपने आपे में धाने से पलट गया पुष्कर का ध्यान ;

पूरी तरह हो गया उसको अपने नीच कर्म का ज्ञान ।

उसने क्रिया विनाप ओर फिर फूट फूटकर रुदन किया ;  
दिया भाग्य को दोग, उदासों करने को निज श्रात दिया।

( ३३ )

"गंगा में मग्न करने ने मिट जाने हैं जैसे पाप,  
मुखापान से होता जैसे गृह्यु-मरण है अपने घाप,  
उठ जाता है दिव्य ज्ञान से जैसे जगत-वामना-वास,  
दो जाता है हरि-दर्शन से जैसे धामागमन-विनाश—

( ४० )

"देते हैं नल-व्रमधंती को मुनकर गदा पुनीत कथा—  
है मेरी निज गर्दू-नार ! मन ही मन में मनोभ्रम।  
पदद गर्दू है दया सर्वथा, डीठ दो गया मेरा ज्ञान ;  
मन-ईश्वरानिज उठी, मिट गया कटिघा रवोंकि पभा महान।

( ४१ )

"नाद-भ्रम्यकाली से भी है पदा ज्ञान सेवेयादा ;  
है मा वारों म भी पद-र नोडा को सेवेयादा ।  
गुन पूरे अ, गिरे दूद का नू ही दूया एक आचार ;  
अन-अन है मुझे निजार ! दूी गुनका क्रिया उबार।

( ४२ )

"पुनोपा दे दू ! नती का होया मेरा दिव्यदाता—  
काला होन को उठ आके मान मदा मेरा काल ।  
हूँ पारव पद-र करके जीव नया क्रिया करिण ;  
इसके बिना पदा नू गुनकी, क्या उरराव मुझे हूँ निजरी

( ४३ )

नल नरेय वही है नल नरेय, वही है नल नरेय ;  
नल नरेय ही नल नरेय, नल नरेय ही नल नरेय ।

जब तक आकर वे न करेंगे फिर से श्रेष्ठ निषध का राज—

तब तक मेरे साथ सभा यह बनी रहेगी शोक-समाल ।

( ४४ )

“नहीं ग्रहण मैं अन्न करूँगा, किंतु तपस्या करके तात ।

प्रायश्चित्त करूँगा अपने नीच कर्म का मैं दिन-रात ।

तुम सारी सेना को लेकर पुरी अयोध्या को जाओ—

महाराज नल को लाकर यह राज उन्हें अब सँभलाओ ।

( ४५ )

“उनकी श्रेष्ठ लेखनी को मैं आज्ञा बिना न ले सकता—

इस कारण से नहीं, दूत-वर ! पत्रोत्तर मैं, दे सकता ।

जो कुछ है, उनका ही है सब, मैं तो निर्धन हूँ इस काल ;

उनकी श्रेष्ठ कथा को सुनकर ठोक हुआ है मेरा हृत् ।

( ४६ )

“तुम्हसे मेरी एक विनय है, जहाँ कहीं भी तू जावे—

नल की कथा सुनाना सबको, जिससे पावनता ज्ञावे ।

इसका पढ़ने-लिखनेवाला, सुननेवाला भी हे मित्र !

पाप-कर्म करके भी होगा मेरे-जैसा महा पवित्र ।”

( ४७ )

ऐसा सुनकर चला दूत वह सारी सेना को लेकर—

और निषध-नौका को मुद के मानसरोवर में लेकर ।

पहुँच वहाँ कुछ दिवसों पीछे, उसने नल से हाल फहा—

जिसको सुनकर सबके मन में भरा मोद, आनंद महा ।

( ४८ )

साँग विदा ऋतुपर्यं भूप से, कर धावन को धन-समान—

निज कुटुंब के साथ निषध को नैषध ने कर दिया प्रयाण ।

घड़ते थे वे हर्ष-शक्ति को भरते हुए सैन्य के बीच—  
 करते हुए मार्ग में सारे आने पानी, पीछे कीब ।

( ४६ )

रथेन शरष पर नख चाले थे सेना में ऐसे सुंदर—  
 विष्णु केंद्रि करते थे मानो दुग्ध-सिंधु-नीची ऊपर ।  
 सिंगी सोभते लगे नाचना उनके हृय की सुमति विज्ञोक—  
 और पुत्र७ का देस पराक्रम सूर्य-सिंधु तजते थे शोक ।

( २० )

दुग्ध सिंधु में ही यद् मानो अग्य दुग्धा था अति शोभन—  
 धरता था जो पड़े योग में नल-धनशान्ति-वाइन धन ।  
 उतम पुरु यज्ञे की छात्र और शत में बरके थात—  
 रत्न-कल्पनाय धन उता रक्ष था करने की पद दिन की शत ।

( २१ )

पूजि दुग्ध नन में सरको दोषा था यम पेमा था—  
 काजी-न तीपदा-पुदा थे, मानो आई यह धरमात ।  
 कपता नर अष्ट हा नन शान्तिर का अति थापार—  
 दुग्ध नैरान न नन ने पंडित थे नैरवजात ।

( २२ )

( ५३ )

इससे ही प्रताप नैपथ्य का अद्वितीय कहलाता था—

जो अचला को चला व्योम में, नीचे सिंधु छ बहाता था ।

अंधकार का भार वहाँ पर उतर-उतर था आता था ।

अथवा नल-प्रताप-पावक का धूम व्योम में छाता था ।

( ५४ )

मेरी, शंख, दुंदुभी, इनका कहीं-कहीं स्व होता था—

भीरु जनो के भीरु भाव को मूरि-भूरि जो खोता था ।

अस्त्र-शस्त्र की काति और वह अंधकार का भार अपार—

घोर-घोर वन-गर्जन-सम था उसे वनाता वारंवार ।

( ५५ )

महासुंदरी-दूरी-नाथ वन देते थे जो छवि सुंदर—

और निरंतर जल बहता था जिनके झरनों से झर-झर—

ऐसे वनमय भूमिधरों पर नल की वह सेना चढ़कर—

कंपमान कर उन्हें उतरती भूमि-कप करने भू पर ।

( ५६ )

सारे सागर पीकर भी जो नहीं तृप्त कहला सकते—

वे भी घटज पानकर जिनका हैं सुतृप्ति को पा सकते—

ऐसे सरिता-सरोवरों का पीकर सब मृदु पावन पाय—

हर्षित मन होकर चलते थे नल हय पर सेना के साथ ।

( ५७ )

महावाहिनी को पल-भर भी नहीं थकावट आती थी—

जैसे दिन जाता था, वैसे सुखी रात भी जाती थी ।

क्यों न हर्ष का साथ वहाँ हो, जहाँ साथ हैं नल सुखकंद—

भर जाता है मिलकर जिनसे सुख के भी मन में आनंद !

\* सेना = सिंधु । † युष्ठा ।

( १८ )

दमयंती भी क्या रही थीं करके कृपा सभी का मोद—  
 मैंने सुखी थीं जैसे, जैसे यन्त्रा रहती मा की मोद ।  
 द्विती लरक से, क्रिया लरक का, नतीं तिसी को भी था शोच,  
 अयोकि चिता में सांती चिता नज दमयंती-पदन बिलोक ।

( १९ )

निपट-समाप वेग व ये मय जैसे-जैसे घाते थे—  
 जैसे-जैसे वे भ्रमने का मदा मोद में पाते थे ।  
 नर नारी मय बड़े हृष से हो काके मग में पकड़—  
 नर नैनी का स्वागत करते प्रेम-भक्ति वे थे सर्वप्र ।

( २० )

दोरे, मंगली, ताज, जगद्वि, शायी, घोड़े सैनिक-र—  
 इनकी भेद उन्हें देते थे आश्रित राजा था-भाकर—  
 तिन-मुकुट मजु भविषा का कठिन स्वयं कर गारार—  
 दो नर ये नज के पद नर इत मुकु मजु मन्दिनवापर ।

( २१ )

देव नर दारा मुकु नर - भक्ति को—  
 निज नर मे नुरभित में नर मुकुटा—  
 नज नर - वा राज नर होने गता—  
 वा नर का वा नर वा नर - इत ।

## उन्नीसवाँ सर्ग

( १ )

विभव-धाम, निष्काम, काम का सुखकर-सहचर—  
विरही जन का वाम सुधाकर के सम बनकर—  
वसुधा पर आ गया, छा गया वसुधाधर पर—  
कर, वसुधासह-कांति, ❀ पुष्प-दल वसुधा, सुंदर ।

( २ )

संत - समान - वसंत अंत कष्टों का करने—  
आया जीवन-व्योति नई जीवों में भरने ।  
वाल-समाल-रसाल, देखकर 'कुसुम-काल' † को—  
फूल-फूलकर तान रहे थे पुष्प-जाल को ।

( ३ )

कलित-कोकनद - कुंद - कंद - किंशुक - इंदीवर—  
कल-कदंब - कचनार - केवड़े फूल - फूलकर—  
विरहिणियों के चारु-चित्त को लला रहे थे—  
नयनों-बीच त्रिशूल मूल तक चला रहे थे ।

( ४ )

ये मानो ये समी पंचशर - खरतर - शर-वर—  
या ये मधु के श्ल-श्ल थे महा भयंकर ।

---

\* वृक्षों की शोभा को, जो फूल और पत्तारूपी धन देनेवाली है, इस वसंत ने और भी मनोहर करके... † वसंत ।

खरक - खरक ये यहाँ चनेंगे विरही-भसु-वर—  
टाँके थे इमलिये इन्हें स्मर ने गृध्रों पर।

( ४ )

हे यह काम-कृपाय, केतकी-कुसुम, कठिनतर—  
जो होगा अति शोभ्य हमारे लिये प्राण-वर—  
मन में प्रेमा मान विरह - विधुरा नारीवन—  
धोरा नीचे, उमे लगा शर रतने शय-दण्ड।

( ५ )

जाख कमल हैं भजा दमको जो छंगारे—  
जो ये दमको जगा हरेंगे प्राण हमारे—  
जो विगारधर उन्हें भूँटने थे मिही नर—  
मन-चर्चा नृग - वृंद को भूम मानकर।

( ७ )

प्राण, प्रेम, प्रेम, जनेगी, श्याम भी यम—  
रख जोर जमान कृपने जने भजा यम।  
देन-देन लिल इन्द मानस, मरगों पूरा—  
जिह पर जाने जो मनुज नृग-रुजा।

( ८ )



पी-पीकर जल को न, किंतु 'पी-पी' कर चातक—  
या धनने लग गया वियोगिनियों का घातक ।

( १० )

नाच-नाचकर मोर शोर थे नहीं मचाते—  
छुतरी करके वार - वार थे वे हर्षाते ।  
कहते थे यह बात, प्रिया में प्रीति बढ़ाने—  
निज पावनता, सत्य - स्नेह, सौंदर्य दिखाने—

( ११ )

"होते हम - जैसे न विद्वग जो सुंदर-पावन—  
तो चतुरानन - सुता और शिव-पुत्र-पढानन—  
मिथुन की-सी तरह स्वर्ग में पैदल फिरते—  
घर ❀ में सड़ते, या कि मार्ग में पड़ते-गिरते ।

( १२ )

"चढ़ते हैं श्रीकृष्ण - शीश पर पंख हमारे ;  
इनसे लड़कर भूत, रोग भी सारे द्वारे ।  
इससे मानिनि ! मान छोड़कर कहना मानो—  
नीलकंठ का कोप उग्र होता है जानो ।"

( १३ )

धुरे दिनों का फेर, दिनों का नष्ट हुआ अब—  
पल-पल बढ़ने लगे हर्ष से वे सब-के-सब ।  
रवि उत्तर चल दिपु, ग्रीष्म को निकट मानकर—  
बड़े आदमी एक जगह रहते न निरंतर ।

( १४ )

मेरे स्वामी दिवस देर से अब आते हैं ;  
वे अवश्य इस कहीं प्रेम में फँस जाते हैं ।

\* क्योंकि दौड़ो के हमी वाहन हैं ।

वाँ पिघारकर लगी सूपने निशा - भामिनी ;  
 क्योंकि सपथी - प्रेम देस सकती न कामिनी

( १५ )

पीडे - पीडे पत्र जना - तन्नों से पढ़कर—  
 वोग रहे थे वार - वार ये कदण पचन-वर—  
 "दृष्टो ! तु ! भी शोक हमारा गुम मन करना—  
 जेता है जो जन्म, एक दिन उसको मरना ।

( १६ )

"दूरस से हम यही विनय करते है मुवर—  
 करने से मनु, पडे हमें तो तर - चरवाँ पर—  
 जियसे जों फिर हमें गोद में जनक हमारे—  
 भीर बने ये दरे - नरे मुग पाकर सारे ।"

( १७ )

कद-दद-दुद-दिदीन इड मे कर्वा-नदी पर ।  
 कर्वा - कर्वा ये गृदुद नारा-दद-गुण पुष्पपर ।  
 कीर्द-कीर्द इड 'हृ' - 'ध' - 'द' में दादर—  
 जाना ज्ञाया भीर कानि देवा पा मंदर ।

( १८ )





तब सेना के साथ निपट में जा पहुँचे नल—

जिन्हें देखकर वदन हा गया सबका उज्ज्वल ।

( २० )

क्योंकि स्वच्छता प्रेम-भक्ति सं ही आती है ;  
क्रोध द्वेष से चली चित्त से वह जाती है ।  
रहती जैसे कांति शांति के साथ सर्वदा—  
उसी तरह है साथ सुमति के सदा संपदा ।

( २१ )

जनता-स्वागत और भेट को स्वीकृत कर-कर—  
पहुँचे नल फिर भव्य भूप-मंदिर के अंदर ।  
पुष्कर विधिवत् जहाँ दिनों से तप करता था ।  
थे जो उसके पाप, उन्हीं को वह हरता था ।

( २२ )

उनको अपने निकट देख वह खड़ा हो गया ;  
उसका सारा शोक सदा के लिये सो गया ।  
दोनो छ भैमी-चरण पकड़, वह गद्गद होकर—  
ऐसे कहने लगा, भाग्य पर अपने रोकर—

( २३ )

“माता ! जीवन नहीं मुझे यह माता मेरा ;  
भ्राता के अतिरिक्त शय नहीं त्राता मेरा ।  
जान-बूझकर तुम्हें कष्ट मैंने न दिया है ;  
द्वापर ने ही महा नीच यह कार्य किया है ।

---

\* जो छायावाद ( रहस्यवाद ) द्वितीय सर्ग के अंत से प्रारंभ हुआ है, वह यहाँ आकर सर्वपूर्ण रूप से प्रकट हो गया । राजा नल ने यही दृश्य देखा था ।

( २४ )

"कलि का महा प्रभाव छा गया था सब मुझ पर—  
 सिद्ध हुआ जो धातु सभी के लिये कष्टकर।  
 तुमने मेरी ही कथा आपकी दूत-यज्ञ से—  
 कलि का कष्ट-विकार हट गया मेरे मन से।

( २५ )

"मर डरता हूँ या कि भया मैं बात बनाकर—  
 इसे मानने दियु, निराकर और दिनाकर।  
 मेरे कारण कष्ट आपने कर्त उठाए,  
 हानर-कति ने काम कियु मे सब करवाए।

( २६ )

"मैं हूँ दुःख-मना, पिता है नैरथ मेरे।  
 तुम भाग्य ही, कि तु भाग्य ने ये दिन करे।  
 हम सब प्रसाध भाग्य सब धना कल्प—  
 मैं बाजक हूँ सुटेज, करण ने मुझे मोक्षिय।"

( २७ )

रत्नवती, एक तरह मोन ही, गता हूँ थी—  
 तबो भाग्य-कति नून तब उठा हूँ था।  
 नम-नरक न कि हूँ मैंने तब भर जाना।  
 जवन भाग्यो हार देव सब कष्ट बनाना।

( २६ )

“नहीं किसी पर रोप, दोष है नहीं किसी का ;  
पछताना तू छोड़ मिटा अम अपने जी का ।  
वात गई सो गई, किंतु रख रही-सही अब—  
रोना-धोना बनी बात को खोना है सब ।

( ३० )

“हम दोनो ने तुम्हे चमा दे दी है पुष्कर !  
दया-प्रीति भी पूर्ण हमारी है अब तुम्ह पर ।  
सब बातों को छोड़, प्रेमकर तू अब इनसे—  
अपना पावन वंश चलेगा आगे जिनसे ।”

( ३१ )

उसने फिर सरनेह अंक में उनको लेकर—  
सूँघा उनका शीश हृष से आशिष देकर—  
और कहा—“अत्यंत मुझे आनंद मिला है ;  
मेरा ऐसा नहीं कभी मन-सुमन खिला है ।

( ३२ )

“इंद्रसेन सुतरब, मुझे अब पूर्णकाम कर—  
कल्पवृक्ष हो गया गमनशाली इस भू पर ।  
चिंतामणि - सम श्रेष्ठ इंद्रसेना यह कन्या—  
चिंता हरती सभी चित्त की होकर धन्या ।

( ३३ )

“पूज्य निपद्य-नरनाथ ! आपकी मंजुल महिमा—  
बढ़ी-बढ़ी है तथा, यथा है मेरी लक्षिमा ।  
इन्का ध्यान कर न सकेगा कोई प्राणी—  
धक जावेगी क्योंकि वहाँ पर वाणी-वाणी ।

\* अपने पुत्र-पुत्री ।

( ३४ )

"मुझ-जैने को छात्र थापने मुक्त किया है—  
 यौर अनप-वरदान प्रेस मे मुझे दिया है ।  
 मानस मदा उदार थाप-सा नहीं धन्य है ;  
 स्वार्थी जग के बीच नाप-को धन्य-धन्य है ।

( ३५ )

"इम-वंती के सद्य नहीं ह साधरी नू पर—  
 प्रिमने कर ली प्राप्त कीर्ति है मुझे धना कर ।  
 तुन दोनो का मदा रट्टंगा में आभारी—  
 शीत श्रम के मदा यौर प्रति आजाकारी ।

( ३६ )

"मेरा इच्छा थाप गीम प्रय पूरं कीर्ति ,  
 सिद्धामन पर रीठ मभी को मोद कीर्ति ।  
 प्रजा निरय की आरविना व्याकुल है जैसे—  
 नीर-दान पावीर शीन हो मारी जैसे ।

( ३७ )

"जकर मंग भार थाप प्रय इम रामन का—  
 प्रयो ! मिदाया दुष मजा इम जन के मन का ।  
 केम हूँ मे पदा इच्छिप जावा मने—  
 मन्-सा को माल थाप ह जेव प्रवने ।"

( ३८ )



( ३६ )

“जिससे मैं संबंध सर्वथा तोड़ चुका हूँ—  
वचन-मात्र से नहीं, हृदय से छोड़ चुका हूँ—  
आज उसी को पुनः करूँ मैं स्वीकृत कैसे ?  
करने के क्या काम कहो होते हैं ऐसे ?

( ३७ )

“भावी के भी भोग सभी कुछ भोग लिए हैं—  
पुष्कर ! मैंने महा कठिन भी काम किए हैं ।  
लूटा है आनंद हृषं का मैंने मन-भर—  
और कष्ट का कोप सहा है महा मयंकर ।

( ३९ )

“वैभव का भी विभव हाथ से छीन लिया है—  
मैंने मोद-विनोद छ और फिर हरण किया है ।  
कई तरह के खेल यहाँ खेले हैं मैंने ;  
प्रिय-वियोग के दुःख सभी भेले हैं मैंने ।

( ४२ )

“मुझे इसलिये चाह नहीं है राज-पाट की—  
धन-वृत्त की और नाम की, ठाट-वाट की ।  
सुम्हको इच्छा यही एक है धव हे पुष्कर !  
पाऊँ मैं निर्वाण प्रिया के साथ शीघ्रतर !

( ४३ )

“जीवन-विदु-समान क्योंकि है चंचल जीवन ;  
यदृता है जो नहीं, किंतु घटता है चण-चण ।  
हे इसका उपयोग यही कदम्बता सुख-कर—  
इसे प्राप्त करना न दूसरी बार यहाँ पर ।

● अर्थात् दानो का ही अत्यंत अनुभव किया है ।

( ४४ )

“इसे त्यागना या कि सचंया खोना इसका—

एक-मात्र यह राक्ष्य चाहिष्ट होना इसका उ।

इसे इमे भगवान इन्द्रिये देता पुष्कर!

दोने इन्मे मुक्त करे इन यत्न निरंतर।

( ४५ )

“इहो मया नं स्वल्प, पद्मद्वय खोदित जाती,

हो जाऊँ विज्ञान, मशहूरी, वैभवशाली।

गोर्तु मारे देव नष्टकर रुद्रजनों को—

विज्ञान पर येक पद्मद्वय मिश्रणको को।

( ४६ )

“स्वदि-निदि-संपनि-लाह की मेरे थावे,

मुझे विज्ञाननाथ विजोधी - नाथ बनारों—

करती जीवन-नाम बननाये ई ऐसी।

इसके मारे हुए मुक्ति हो सकती ऐसी?

( ४७ )

“इसका नाम-निदान स्वर्ग म मेँ छा। निता हूँ,

ई यह मेरा कर्तु, इमे मेँ मार गिरा हूँ।

नरा इसको चर्के, छत्र हूँ इसको देना—

बदा विद्या मेँ बदा विद्या दा कर गक लेता।

( ४८ )

यों कहता है मनुज कोप में जब भर जाता ;  
कर पाता कुछ नहीं, स्वयं पर वह भर जाता ।

( ३९ )

“अपने धन को मूढ़ ! दान में क्यों खोता है,  
दीन-पालना से न लोक में कुछ होता है,  
निधि पर निधि में भरूँ और फिर उन्हें छिपाऊँ,  
भू को खोदूँ या कि कंदराओं में जाऊँ,

( ४० )

“मेरे भूपण्य - रत्न रहेंगे पास सर्वदा,  
यों ही मेरी बनी रहेगी सदा संपदा,  
मन-भोदक-आस्वाद लोभ से जो यों लेता—  
है वह अपनी नाव यहीं पर रहता खेता । ❀

( ४१ )

“है मेरी यह भोद - दायिनी काया - माया,  
है छाया के सदृश गामिनी मेरी जाया,  
ये मेरी संतान, पिता - माता ये मेरे,  
ये सुखदाता मित्र और ये आता मेरे,

( ४२ )

“है यह मेरी एक रम्य रत्नो की ठेरी,  
यह मेरा घर-दार और यह वसुधा मेरी—  
बढ़ जाती है बहुत इस तरह जिसकी रमता—  
परब्रह्म में चित्त नहीं है उसका रमता ।

( ४३ )

“सुख-जैसा गुणवान, नहीं विद्वान कहीं पर—  
ज्ञानवान, यशवान और बलवान कहीं पर,

● वह नहीं वारंवार जन्म लेता रहता है और भव-सागर से पार नहीं होता ।

क्या है मेरे लहरा, काम भी महा मनोहर,  
 क्यों मैं कहे प्रणाम किसी को हँसपर च होकर,

( २४ )

"किसी बात में—किसी काम में—कोई नर वर—  
 हों सज्जता मेरे न कभी भी कहीं याबर,  
 ऐसा महा वन्द, दुष्ट - पाखंडाउबर—  
 देता है उस गिरा सभी को गड - लडकर।

( २५ )

"इसमें ऐसा गति नाय ! क्यों भरी दुई है,  
 क्यों इसके धन-राशि पास में धरी दुई है,  
 इसको ऐसा लर दिपा है क्यों प्रका ने,  
 क्यों की ऐसी कृपा इसी पर थेट गिरा ने,

( २६ )

"है यह ऐसा मुना, धनी - माना है ऐसा,  
 क्या नू भन्वान क्या नहीं मुन्को ऐसा—  
 इस प्रकार की प्रजन मजुज को दुगा बताइए—  
 पर देती है मम, मुन्नि की प्रजा-प्रजाइ।

( २७ )

स्वर्गारोहण ठीक नहीं, यदि ज्ञान - रहित है ;  
भूमि-वास है महा श्रेष्ठ यदि ज्ञान-सहित है ।

( ५६ )

“धुल सकता जो नहीं चार जल के पाने से—  
होता जो बदरग नहीं है धुल जाने से—  
फीका जिसके बिना सदा है रंग अंग का—  
है अथ मुक्त पर रंग चढ़ गया उसी रंग का ।

( ६० )

“नहीं उतरना, किंतु जानता है जो चढ़ना—  
सिर पर चढ़ आता न जिसे है नीचे पढ़ना—  
ऐसा मद है आज कर लिया मैंने मन-भर—  
जिसका अब न उतार कभी आ सकता पुष्कर !

( ६१ )

“शाखा-फल-दल-मूल, व्यर्थ है इन्हें पकड़ना—  
करो मूल का ग्रहण, वश्य जो सबको करना ।  
है यह वृक्ष विचित्र, मूल है जिसका ऊपर—  
हैं नीचे की ओर, ओर शाखादिक † सुंदर ।

( ६२ )

“विषय-नदी-मुख नहीं घटेगा, बढ़ जावेगा—  
उसको करना बंद निरर्थक कह जावेगा ।  
है वह बिलकुल शुष्क नहीं हो सकता तब तक—  
आदि-स्रोत है सुखा रहेगा उसका तब तक ।

\* राग, प्रेम अर्थात् ईश्वरोपासना । † श्रीगोता में जिसका बर्णन

( १३ )

“दे माया का स्वाग वदा ही होता दुष्कर—  
 इस धंधन से कठिन निकल जाना है पुष्कर !  
 हे वम कुट्ट भी नशी यही पर लेना-देना—  
 यों विचार कर, मुझे नाच है अपनी लेना ।

( १४ )

“पंथा वृद्धि के हेतु शंभ मे तुम को लेकर—  
 शीर हर्ष से उने रागही मैं देखर—  
 मुझको सुखामाग यथुम ! कर देना है,  
 पीया साधम जान, राद वन का दोता हूँ ।”

( १५ )

“यदा ना दे ऊरु,” यदा यों प्रमथती ने ;  
 यदा या दद यही यदा जो उमके ती ने ।  
 मा १ ही यदा, यही यही या यदा ने भी—  
 या जो ११ ११ गद् दम यमय नद की मे भी ।

( १६ )

( ६८ )

“तेरा यह निस्स्वार्थ-भाव, यह त्याग, अनुत्तम—  
 है कहलाने-योग्य सर्वथा अद्भुत-अनुपम ।  
 तूने हे मनुजेंद्र ! प्राप्तकर जन्म यहाँ पर—  
 मर्त्य-लोक को बना दिया है विव मे चढ़कर ।

( ६९ )

“हे तेरे अनुकूल सती - वर भीम - कुमारी—  
 धन्या-धन्या जिसे कह रही धरणी सारी ।  
 जिसकी स्वामी-भक्ति, अलौकिक शक्ति देखकर—  
 हम निर्बर ही नहीं, चकित हैं चारु - चक्रधर ॐ ।

( ७० )

“राज-पाट को छोड़, मनुज - साधारण होकर—  
 तूने जो-जो काम किए हैं कठिन - मनोहर—  
 हो सकता हमसे न कभी भी उनका वर्णन—  
 हैं वे अद्भुत और देव - मुनि - मन - आकर्षण ।

( ७१ )

“कर सकते हम नहीं योग्य - सम्मान तुम्हारा † ;  
 न्यून तुम्हारे लिये आज वरदान हमारा ।  
 तो भी हे नर-नाथ ! यही तुम कहना मानो—  
 हैं सुर भी असमर्थ ‡ वात यह मन में जानो ।

( ७२ )

“सुला हुआ है द्वार स्वर्ग का लिये तुम्हारे ;  
 अगवानी को खड़े हुए हैं निर्जर सारे ।  
 तुम्हें सुनाने गान, हो रही व्याकुल भारी—  
 गंधर्वों के साथ अप्सराएँ हैं सारी ।

ॐ शैवादिभ्यः । † तुम दोनो का । ‡ तुम्हारा सर्वथा उचित सम्मान करने में ।

( ७३ )

"तुम दोनों इमलिये सुरों के दन मन भारत—  
 दिव में वज्रो सदेह, उमे करने को पावन ।  
 स्योनपन बड वश तुम्हारे दिवो यशै पर ।  
 खेने आप तुम्हें नात्र हम चारो निर्जर ।"

( ७४ )

नर नरेश—"हे सुरो ! आज मैं वन आभारी—  
 मान्ना आश थापना बड द्विकारी ।  
 संतन इमा वजार बनाई तुम देते दो—  
 निज भाई का प्रीर बरु मे भी लेगे हो ।

( ७५ )

'होकर महा वरुण, स्वर्ग में धाने जायक—  
 दो मरुता तु रानी वरी मे, दे दिवनापक ।  
 दो तुम रवा नि तन, वा कर इमारे मुक्त पर—  
 दिवा मुझे सम्मान कर वड वड श्रेयकर ।

( ७६ )



( ७८ )

“शिष्य हुए सब देश इसी से शिक्षा पावें—  
 और इसी का दिया हुआ थलोदक खावें ।  
 हो इसके आधीन राज सब भूमंडल का ;  
 मिले किसी को भी न पार कुछ इसके बल का ।

( ७९ )

“नव-निधियाँ भी और सिद्धियाँ आठो आकर—  
 रहें घनों के सदृश सर्वदा इस पर छाकर ।  
 शौर्य-धैर्य-उरसाह साथ में इनको लेकर—  
 पढ़ा रहे आनंद इसी पर धरना देकर ।

( ८० )

“महाकठिन-से-कठिन काम के करनेवाले,  
 मातृभूमि के कष्ट शांति से हरनेवाले,  
 उसके हित के लिये हर्ष से मरनेवाले,  
 भूरि भूरि भांडार-भूति से भरनेवाले,

( ८१ )

“अरि-शिर पर अपकीर्ति-भार को धरनेवाले,  
 नहीं युद्ध में कभी काल से डरनेवाले,  
 ज्ञान-दान के लिये स्रोत-सम भरनेवाले,  
 सब देशों के महा मान को चरनेवाले—

( ८२ )

“ऐसे मानव-सिंह, यहाँ पर पैदा होवें—  
 वो स्वतंत्रता को न कभी भी थपनी स्रोवें ।  
 साथ एकता-मंत्र नाव को पार लगावें ;  
 कर शुभ गति को प्राप्त, नहीं फिर पीछे भावें ।

( ८३ )

"सती, मुद्री और बलीकिक विदुषी होकर—  
पाकर पति ने मान और फिर सुमश-ननोहर—  
चूड़ें-छूड़ें सदेव, प्रियां आदर्श गहों पर—  
हो जिनमें उषर गुह्यतम ऐसे शिषु-वर—

( ८४ )

"स्वार्द्ध्य का पाठ गर्भ में जो पाते हैं,  
स्वाभिनान के उच्य विरार पर जो पढ़ते हैं,  
• पोड़े जो दिन-रात कथाओं के पढ़ते हैं,  
पाने को स्वातश्च शयु में जो लड़ते हैं,

( ८५ )

"जिन्होंने अपना देव प्राण-मन दाने प्यारा,  
जो उधरि-द्वेषु दिनों का जो न सकारा,  
आन-नाश का इतन जगो ता जिनके मन में,  
स्वै हरि जो पाव, गदा जो धर में, उन में ।

( ८६ )

"वे दित्तजो! मुझे! इतन इतन जगो ;  
स्वै नरेश मुझे स्वयं मान कर जगो ।  
नाम ही मरि जगो स्वयं स्वयं—  
स्वै स्वयं ही मुझे स्वयं स्वयं स्वयं ।"

( ८७ )

उदाहरण ऐसा न मिलेगा देश-प्रेम का—  
करनेवाला और सभी के लिये छेम का ।  
वदे वचन-अनुसार ही भारत की जन-संपदा—  
सौख्य-शांति-संपत्ति भी और रहें इसमें सदा ।

---